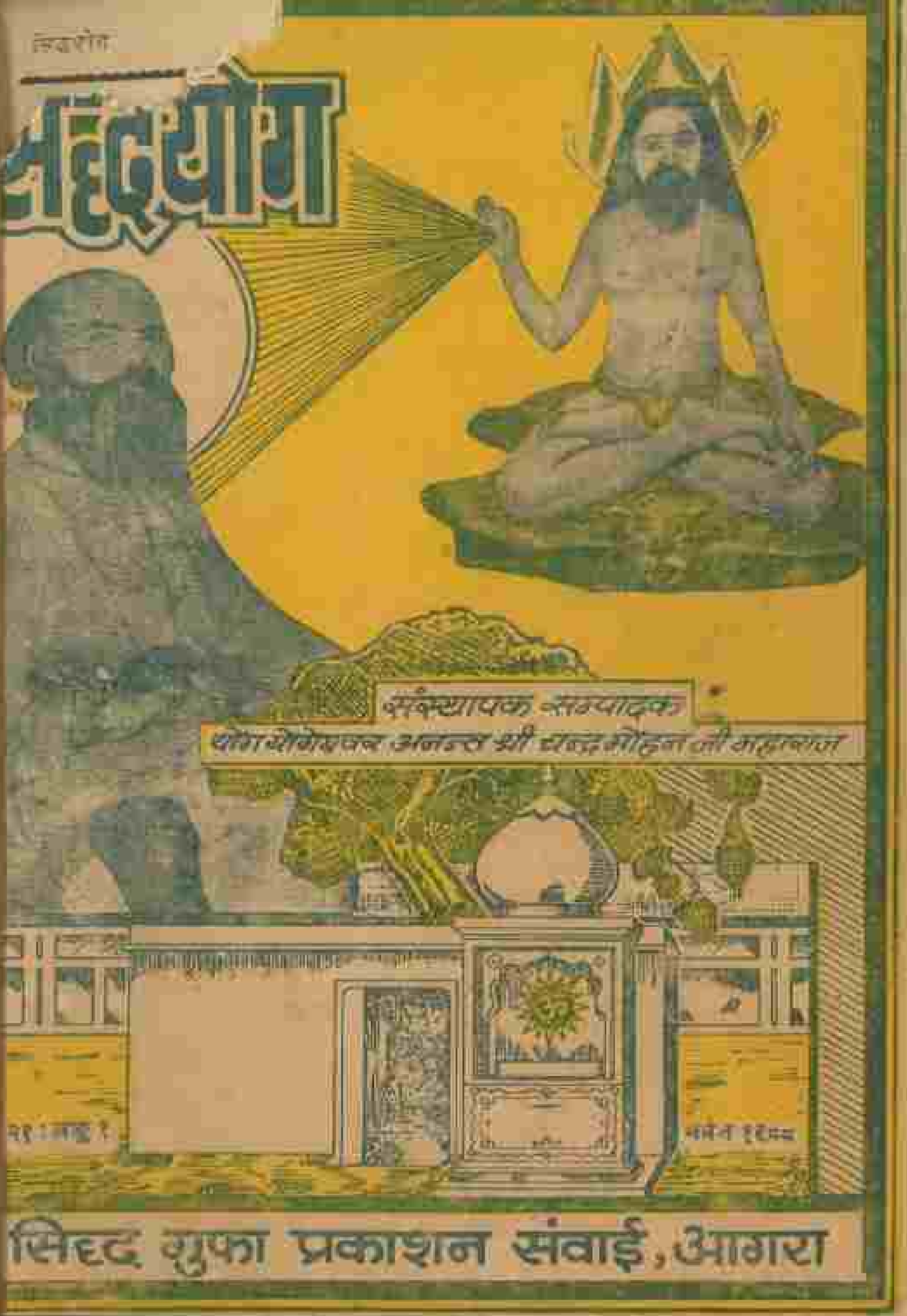

हृद्‌योग
संस्थापक सम्पादक
योग योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहन जी महाराज
सिद्द गुफा प्रकाशन संवाई, आगरा

प्रकाशक

श्री सिद्धगुफा

मथाई

संयुक्त सम्पादक

'दिव्य'

अगस्त

१९६८

इस अंक के कुछ लेख

★ श्री प्रभुजी का 'दिव्य जन्म' (विशेष लेख) २

● योगमार्तण्ड [illegible] श्री [illegible] महाराज

★ प्रभो: श्री [illegible] श्लोक [illegible] ४

● [illegible] श्री [illegible] शर्मा ([illegible])

★ शिवगुरु और [illegible] ६

● आचार्य श्री [illegible] शर्मा

★ महारानी मीना : [illegible] भूमिका में [illegible] योजना १४

● डा० श्री [illegible] मिश्र

★ [illegible]वादी कबीर २६

● डा० [illegible] उपाध्याय

★ पुराणेश ३२

● श्री शिवानन्द

★ मनीषियों की दृष्टि में योगमार्ग ४६

● श्री [illegible]नन्द

★ ब्रह्मलोक प्राप्ति के साधन ५१

● श्री [illegible]

★ प्रेत बाधा निवारण ५५

● श्री पन्नालाल (मिर्जापुर)

★ प्रणाम ६१

● श्री विष्णुप्रसाद आर्य

★ स्वास्थ्य के लिए स्वर [illegible] ६८

● श्री [illegible] उपाध्याय

★ दो रामायण ७१

● श्रीमती [illegible] भारद्वाज, एम. ए., बी.एड.

★ प्राणायाम का तन तथा मन पर प्रभाव ७६

● श्री गौतम श्रीमाली

★ योग एवं [illegible] योग ८४

● आचार्य श्री रामलाल शर्मा

★ अभ्यास और वैराग्य ८७

● डा० कृष्णकान्त शर्मा

★ अन्त समय की [illegible] गति ९०

● श्री जगदीश नारायण उपाध्याय

★ योगेश्वर श्रीकृष्ण का विभूति योग ९५

● ब्रह्मचारी श्री ओमप्रकाश, (लखनऊ)

वार्षिक मूल्य ३६ रुपया। इस अङ्क का १० रुपया

सिद्ध योग

योग सिद्धान्तों का प्रतिपादक मासिक पत्र

श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवाई (एत्मादपुर) आगरा।

वर्ष २१
अङ्क १

अप्रैल
१९८८

ध्यानं ध्यानं [illegible] पश्यन् [illegible] शुद्ध स्वभावम्,
मन्त्रो मूलाग्रंथि [illegible], मुक्तिं प्राप्नोति सद्यः।
[illegible] [illegible] [illegible],
[illegible] [illegible] [illegible] [illegible] 'सिद्धयोगः' ॥

न इन्द्र त्वदुत्तरं न ज्यायो अस्ति

न कि इन्द्र त्वदुत्तरं न ज्यायो अस्ति वृत्रहन्।
न क्येवं यथा त्वम् ॥

सामवेद पू०. ३/२/१०

इन्द्र ! न कोई जग में तुम सा, प्रियतम उत्तम और नहीं।
[illegible] भी हो, कौन भला जग, श्रेष्ठ न तुम सा कहीं नहीं।
जगतीतल में जगदीश्वर विभु, तुमसा प्रभु भी और नहीं।
[illegible] [illegible] [illegible], तेरे तुम हो और नहीं॥

अर्थात्—हे प्रभु (इन्द्र)! मेरे जीवन-मार्गों में तू अपनी ही इच्छा पूरी कर। मैं तुम से केवल परम शान्ति की भीख माँगने आया हूँ। मैं यहाँ केवल तेरी ही आत्मानुभूति कर सकूँ। प्रियतम! मैं जानता हूँ, यह तेरा प्रेम है जो पल-पल पर स्वर्गाभा बन कर जगमगा रहा है। जिससे आनन्द के मेघ आकाश में घूम रहे हैं, सुवासित पवन मुझे जागृति दे रहा है। यह सब हे मनोहारी! तेरा ही तो प्रेम है। नाथ! आशीष दो कि मैं इस पावन आहुति को बस तेरे नाम ही समर्पित कर सकूँ और तेरी ही पावन स्मृति में दिन-रैन निमग्न रहूँ।

'हमारा विशेष लेख—

श्री प्रभुजी क

★★★★ 'दिव्य जन्म'

योग-योगेश्वर अनन्त श्री चन्द्रमोहनजी महाराज

प्रस्तुत लेख में श्री महाप्रभुजी के दिव्य जन्म पर प्रकाश डालते हुए पूज्य-चरण श्री गुरुदेवजी महाराज ने यह समझाने का प्रयास किया है कि उन्होंने योग धर्म के पुनरुत्थान के लिए निर्माण-कार्य द्वारा अपने को किस प्रकार एक सद्गृहस्थ के घर में जन्म लेकर उसे कृतार्थ करते हुए दुष्प्राप्य योग सिद्धान्तों का प्रचार विश्व में किया।

● सं० सं०

अखण्ड ब्रह्माण्ड नायक सद्गुरुदेव योग-योगेश्वर प्रभु श्री रामलालजी महाराज अमृतसर की पावन भूमि में अवतरित हुए। अमृतसर एक ऐसा पवित्र नगर है जो परम दिव्य है एवं सिद्धानुग्रह-भाजन है। इस नगर में सर्व-सामर्थ्यवान् अणिमादिक ऐश्वर्यों के मालिक किसी न किसी महापुरुष का अवतरण होता ही रहा है, गुरुदेव नानक एवं गुरुगोविन्दसिंह आदि की चिरकाल तक यह निवास स्थली बना रहा। उन्हीं सन्तों के कृपा स्वरूप यहाँ पर बहुत ही शोभायमान स्वर्ण मन्दिर—गुरुद्वारा— .ना हुआ है। इसी पवित्र नगरी में सभी प्रकार के ऐश्वर्यों से परिपूर्ण मेरे गुरुदेव योग-योगेश्वर प्रभु श्री रामलालजी महाराज का प्राकट्य हुआ। महाप्रभु श्री गुरुदेवजी क्या है और उनकी क्या शक्ति है, यह विषय वर्णनातीत है। श्री प्रभुजी के पिताजी का नाम पूज्य-चरण श्री पण्डित गण्डारामजी था। श्री प० गण्डारामजी ज्योतिष शास्त्र के माने हुये अद्वितीय विद्वान् थे। उनके पिताजी प० साईंदासजी इस विद्या में प्रख्याति प्राप्त व्यक्ति थे। उन्होंने अपनी ज्योतिष विद्या एवं अपनी मानस शक्ति के आधार पर अनेकानेक व्यक्तियों का भला किया था। इसी पवित्र कुल में पं० गण्डारामजी के शुभ गृह में मेरे श्री सद्गुरुदेवजी महाराज ने जन्म लिया। श्री प्रभुजी के जन्म से पहले ही अनेक प्रकार के मङ्गल-सूचक चिह्न दिखलाई देने लग गये थे। श्री माता भागवन्ती अपनी गोद में हमेशा दिव्य तेज को देखती और आनन्द-विभोर बनी रहती थीं। इसी प्रकार से श्री पं० गण्डारामजी भी प्रतिक्षण आनन्दमग्न रहा करते थे। घर में हर समय सुख-शान्ति और मङ्गल बना रहता था। श्री प्रभुजी के श्रीमती माता भागवन्ती के उदर से प्रकट होने से पहले यत्र-तत्र और भी अनेक शुभ लक्षण प्रगट होने लगे थे। इससे आस-पास के सभी लोग यह भली प्रकार से समझ गये कि किसी महापुरुष का अवतरण यहाँ निकट है।

संसार में यह उक्ति प्रख्यात है—

यस्मिन देशे कुलेयोगी ध्यान-योग विचक्षणा।
सोऽपि देशो भवेत पूतः किम् पुनस्तस्य बान्धवाः॥

अर्थात्—जिस देश में ध्यान योगी निवास करता है वह देश स्वतः ही पवित्र हो जाता है और उस योगी के भाई, बन्धु एवं कुटुम्ब कबीले का तो कहना ही क्या। यह लोकोक्ति एक साधारण ध्यानाभ्यासी व्यक्ति के लिए कही गयी है किन्तु जहाँ पर परिपूर्ण सिद्धों के महासिद्ध परम योगेश्वर स्वयं प्रगट हों उस देश एवं उनके भाई-बन्धुओं के विषय में तो कहा ही क्या जा सकता है। श्री आनन्दकन्द प्रभुजी इन्हीं विशेष लक्षणों को लेकर इस भूमण्डल पर अवतरित हुए थे। निश्चय ही इनके उद्भव के रहस्य को सहज में समझाना बहुत कठिन सा ही है। अतः केवल इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि हिमालय से आने के बाद उन्होंने अनेक जगहों पर एक ही साथ जो निर्माणकाय-शरीर धारण किये उनमें से अमृतसर में पं० गण्डारामजी के घर में प्रकट होना विशेष महत्व रखता है। श्री आनन्दकन्द प्रभुजी ने विक्रम सम्वत् १९४५ चैत्र शुक्ला नवमी बृहस्पतिवार तदनुसार सन् १८८८ ई० में पं० गण्डारामजी के घर में जन्म ग्रहण कर सभी को कृतार्थ किया। इस वर्ष चैत्र शुक्ला रामनवमी विक्रम सम्वत् २०४५ तदनुसार ईस्वी सन् १९८८ को शत-वर्ष पूरे हो रहे हैं। अर्थात्—अब से ठीक सौ वर्ष पूर्व इसी रामनवमी के पावन दिवस को श्री प्रभुजी ने अपने आपको प्रकट किया था, जिनकी कृपा के फलस्वरूप देश और विदेश में सर्वत्र योग-प्रचार की धूम मच गयी। यहाँ इस लेख में हमने केवल मात्र उन दीनबन्धु जी के जन्म-ग्रहण करने की सूचना मात्र दी है। जन्म-ग्रहण करने के बाद जिस-जिस प्रकार की बाल-लीलायें उन्होंने की एवं मङ्गलमय ज्ञान और योग का उदय कैसे होता रहा यह सब हम आगे के अपने लेखों में क्रमशः बतलाते रहेंगे। ॐ

आओ करें प्रणाम

★ श्री 'दिव्य'

सिद्धगुफा की उस धरती को, आओ करें प्रणाम।
जिसके कण-कण में रमते हैं, योगेश्वर प्रभु राम॥
आत्मलीन मन हो जाता है, मिट जाता दुःख-दाह।
यहाँ योग की गंगा का, बहता है सतत् प्रवाह॥
शक्तिपात के स्रोत सिद्धियों के दाता अभिराम!
पत्ता-पत्ता बोल रहा, 'जय' योगेश्वर प्रभु राम॥
भस्मीभूत यहाँ हो जाते, विषय, वासना, काम।
सिद्धगुफा की इस धरती को आओ करें प्रणाम!!

प्रभोः श्री रामलालस्य

श्लोक शतकैरर्चनम्

वंदनं च

रचनाकार—श्री द्वारकाप्रसाद शर्मा, लखनऊ

अनन्त श्री विभूषितस्य, सिद्धेश्वरस्य महाप्रभोः श्री रामलालस्य
धराधाम्नि लोककल्याणहेतवे समागतस्य शतवर्षं यावत्
पूर्णावसरे श्लोक शतकैरर्चनम् ।

गोपालात्मज श्री प्रभुरामलालम्,
सिद्धेश्वरं योगिगणावतंसम् ।
मूर्ध्ना प्रणम्य बहुशः हृदि सन्निवेश्य,
नमामि शरणागत वत्सलं त्वम् ॥१

श्री गोपालदासजी के आत्मज, सिद्धों के स्वामी, योगीजनों के आभूषण, शरणागत वत्सल प्रभु श्री रामलालजी को बार-बार शीश नवाते हुए तथा हृदय में धारण कर नमन करता हूं ।

यस्य कृपांशात् बहवो जनाः भुवि,
प्रापुः स्वकीयां परमोत्तमां गतिम् ।
कृपा कृपालोः भवतारणाय,
दुःखाय क्लेशाय च हारणाय ॥२

जिनकी कृपा के अंशमात्र से अनेक लोग इस पृथ्वी पर अपनी परम उत्तम गति को पा गये हैं, ऐसे उन कृपालु प्रभु की कृपा संसार से तर जाने तथा दुःख क्लेश के निवारण के लिए होती है ।

संसार दुःखानल तप्तनृणाम्,
सदा भवाब्धौ भ्रमतां जनानाम् ।
दीनां च हीनां च दशां विलोक्य,
कारुण्यमूर्तिः प्रभुरागताम ॥३

संसार के दुःखों की अग्नि में जलते हुए जीवों को तथा संसार सागर में निरन्तर भटकते हुए जनों की दीनता तथा हीनता की स्थिति को देखकर करुणा की मूर्ति प्रभु श्री रामलाल जी धरा-धाम पर आये ।

वेदेषु शास्त्रेषु च सत्यमुक्तम्,
गृह्णाति नरवेशमपि स्वयं हरिः ।
भक्तार्तिनाशाय च भूतिहेतवे,
यथा युगोवाऽन्याति तादृशाय ॥४

वेदों में तथा शास्त्रों में सत्य ही कहा गया है कि अपने भक्तों के दुःखों को मिटाने तथा उनके कल्याण-साधन के लिए जिस युग में जैसी आवश्यकता होती है उसी के अनुकूल स्वयं हरि-रूप भगवान् मनुष्य रूप को भी धारण करते हैं ।

यदायदापीह   निवारणाय,
  भारं भुवः कोऽप्यवतारद् प्रभुः ।
अजानन् प्रभुं केवलमेव ते ते,
यान् यान् स्वयं प्रकटितो हरिणा स्वरूपः ॥५

जब-जब इस लोक में पृथ्वी के भार को दूर करने के लिए किसी भी रूप में प्रभु ने अवतार ग्रहण किया, तब-तब प्रभु के उस स्वरूप को केवल वे-वे व्यक्ति ही जान पाये जिन-जिन को प्रभु ने स्वयं ही अपने रूप को जना दिया।

पुरापि काले बहवोऽवतारा:,
  श्री राम कृष्णादि वरो बभूवु: ।
सर्वे जना: किं सम्बोधयन्तान्,
  तथैव   जानीयुरिहापरेषु ॥६

पुरातनकाल में भी श्री राम तथा श्रीकृष्ण आदि अनेक श्रेष्ठ अवतार हो चुके हैं। क्या उस समय के सब लोग उनको उस स्वरूप में पहचान पाये थे ? इसी प्रकार अन्य अवतारों के प्रति भी हम जानें।

न ज्ञायते केवल मात्र बुद्ध्या,
  नैवास्ति शक्यो विविधैरुपायै: ।
गम्यस्तु किञ्चिद् परमात्मबुद्ध्या,
  आध्यात्म भावेन परेण यावत् ॥७

केवलमात्र बुद्धि के द्वारा ही प्रभु स्वरूप को नहीं जाना जा सकता और न ही अन्य अनेक उपायों द्वारा भी उनको समझ पाना सम्भव है। उनके विषय में यत्किंचित् जानकारी यदि हो पाती है तो वह या तो परमात्मा में बुद्धि रखते हुए अथवा उत्कृष्ट आध्यात्मिक भाव के द्वारा ही प्राप्तव्य है।

योगात्मबुद्धया प्रतिभासित: स:,
  भवेत् यदा स्यात परमा हि श्रद्धा ।
देवस्वरूपे च गुरौ ह्यात्मनि,
  किं किं न साध्यं भवतीह तत्क्षणम् ॥८

वे प्रभु योग-परायण तथा आत्म-परायण बुद्धि के द्वारा ही प्रतिभासित होते हैं। उनकी प्रतीति तभी हो पाती है, जब उनके प्रति उनके देव-तुल्य स्वरूप में, अपने गुरुदेव में तथा अपने आत्मिक स्वरूप में अत्यन्त श्रद्धा-भाव का उदय होता है। ऐसी स्थिति बन जाने पर उस व्यक्ति के लिए उस समय इस लोक में क्या रह जाता है जो साध्य न हो अर्थात् सभी कुछ प्राप्त करने की सामर्थ्य आ जाती है।

जनु: कृतार्थं भवतीह निश्चितम्,
  शेषं न तद्यद् भवतीह ज्ञातुम् ।
समादरो ज्ञानवतां च मध्ये,
  लोकेऽपरे   चैव   समस्तश्रेय: ॥९

ऐसे व्यक्ति का जन्म निश्चित रूपेण सफल हो जाता है, उसको जानने के लिए कुछ भी शेष नहीं रह जाता है। ज्ञानवान् पुरुषों में वह आदर का पात्र बन जाता है। इस लोक में तथा परलोक में उस व्यक्ति को समस्त कल्याणकारी साधन प्राप्त हो जाया करते हैं।

मया प्रभूणां चरितं तु लेख्यम्,
  इदं   कृपालु:   प्रभुरादिदेश ।
श्री रामलालस्य कृपार्णवस्य,
  गीर्वाणवाण्यां   भुवनेश्वरस्य ॥१०

मैं प्रभुजी के चरित्र को लिखूं, कृपापूर्वक गुरुदेव ने ऐसा आदेश मुझे प्रदान किया, उन करुणा-सागर भुवनाधिपति श्री रामलालजी का चरित्र संस्कृत (देववाणी) में श्लोकबद्ध रूप में विरचित करूँ।

क्वासौ यतीन्द्रो हर एव साक्षात्,
  योगीश्वरो योग विदो वरिष्ठ: ।
क्वाहं जन: प्राकृततोऽपि न्यून:,
  गुणान् गणेयम् मति विभ्रमोऽयम् ॥११

कहाँ वे शिव स्वरूप साक्षात् योगियों व यतियों के स्वामी योग-विद्या के सर्वश्रेष्ठ योगीश्वर और कहाँ मैं एक साधारण जन से भी कम बुद्धि वाला व्यक्ति ? मैं उनके गुणों की गिनती करूँ, क्या यह मेरा मति-भ्रम नहीं है—अर्थात् अवश्य ही मति का भ्रम होगा।

तथापि ज्ञात्वा सकलं निजं प्रति,
मान्द्यं स्वकीयं विषयानरक्तिम् ।
कथं वर्णयेत् रश्मिपुञ्जं दिवान्धो,
उलूको रविं कीदृशया तु बुद्ध्या ॥१२

अपनी बुद्धि की मन्दता, अपनी विषयों के प्रति आसक्ति व अनुरक्ति तथा अपने विषय में कुछ विचार कर लेने पर भी यह मुझ सरीखे व्यक्ति द्वारा प्रभुजी के गुणगण का वर्णन उसी प्रकार का होगा, जिस प्रकार एक दिन के अन्धे उल्लू को कहा जावे कि वह प्रखर किरणों के पुञ्जीभूत समूह भास्कर का वर्णन करना आरम्भ करे। वह किस बुद्धि से क्या वर्णन क्षमता रखेगा वही मेरी क्षमता है।

जानामि नूनं भगवत्कृपातः,
क्वचित् कदाऽप्यसम्भवमपीह शक्यम् ।
मूकोऽपि वाचालसमः दृश्यते,
एवं हि साक्षात् सदृशी कृपामयि ॥१३

फिर भी निश्चय ही मैं इतना तो जानता हूँ कि भगवत्कृपा से कभी-कभी असम्भव भी सम्भव हो जाया करता है। मूक (गूँगा) व्यक्ति भी बहुत बोलने वाला (वाचाल) व्यक्ति के तुल्य दिखलाई देने लगता है। ऐसी ही साक्षात् कृपा मुझ पर भी हो रही है।

कृपां तु परमामनुभूय चेतसि,
सन्धार्य चित्ते तु महाप्रभुं शिवम् ।
आज्ञां प्रभोस्त्वापि विचार्य मह्यम्,
समुत्सहे वर्णयितुं तु साम्प्रतम् ॥१४

हृदय में प्रभुजी की अत्यन्त कृपा का अनुभव करते हुए तथा शिवरूप महाप्रभु को चित्त में धारण करते हुए तथा प्रभुजी की अपने प्रति की गई आज्ञा का विचार कर मैं इस समय महाप्रभुजी के गुणों का वर्णन करने का साहस कर रहा हूँ।

मुखारविन्दात् बहुशो गुरोर्मे,
श्रुता मया योग चरित्रगाथा ।
महाप्रभूणां करुणालयानां,
या या कृतास्तैः स्वजनेषु मध्ये ॥१५

मैंने अपने गुरुदेव के मुखारविन्द से करुणा धाम श्री प्रभुजी की योगमयी चरित्र-गाथाओं को बहुत बार सुना है जो उन्होंने अपने भक्तजनों के मध्य की है।

वसति गिरी किरीटे सिद्धयोगीश्वरोऽसौ,
लसति बहुसमाजो योगसिद्धेश्वराणाम् ।
भवति विविधलीलास्ततः सर्वदा हि,
निज निज भक्तेभ्यः प्रायशो नित्यमेव ॥१६

महाप्रभु श्री रामलालजी हिमालय में निवास करते हैं, वे सिद्ध योगीश्वर हैं। योग-विद्या में सिद्ध योगीश्वरों का बहुत-सा समुदाय रहता है। वहीं से नित्य विविध प्रकार की लीलायें वे अपने भक्तजनों के लिए किया करते हैं।

तत्रास्ते गिरिराजशृङ्ग धवलः
कैलाश नाम्ना श्रुतं,
वासो तत्र विराजते हिम गिरौ
साम्बः शिवः शंकरः ।
तस्मिन्नेव गिरौ च भगवान्
सुभ्राजते सः प्रभुः,
दिव्ये तेजस मण्डिते स्ववपुषि
सिद्धैः सदा सेवितः ॥१७

वहीं हिमालय में एक शुभ्र-वर्ण का शिखर है, जो कैलाश नाम से विख्यात है। उस हिमगिरि पर पार्वतीजी समेत भगवान् सदाशिव

विराजमान है। इसी पर्वत पर महाप्रभु भी शोभायमान हैं। उनकी दिव्य-देह तेजयुक्त है तथा वे सर्वदा सिद्धों द्वारा सेवित हैं।

अनादिमध्यान्त नागस्च सिद्धाः,
सदा भ्रमन्तीह स्वरूप धारिणः।
जरा जन्म दुःखाधयो व्याधयश्च,
न किंचित् कदाचित् प्रभवन्ति तेषु ॥१८

वहाँ रहने वाले सिद्ध अपने-अपने रूपों में विचरण किया करते हैं। उनके आदि तथा अन्त का किसी को ज्ञान नहीं है। उन सिद्ध-जनों को न बुढ़ापा आता है न उन्हें जन्म-मृत्यु का भय है और न ही उन पर दुःखरूप आधियों तथा व्याधियों का कोई प्रभाव होता है।

सिद्धा सदा सन्ति सदैकरूपे,
विराजमाना अजरा ह्यमराः।
मुद्रा कृत्वा खेचरी येश्च सिद्धाः,
यया मात्र संकल्प कृता च सृष्टिः ॥१९

सिद्ध पुरुष सदा एक ही स्वरूप में अजर तथा अमर की तरह विराजमान रहा करते हैं। उन्हें खेचरी-मुद्रा सिद्ध होती है, जिससे उनके संकल्पमात्र से ही सृष्टि (किसी भी स्थिति की उत्पत्ति) हो जाया करती है।

एतादृशैः सिद्धवरैः समावृतः,
महाप्रभुः सिद्धवरेषु श्रेष्ठः।
करोति कल्याणमयीं च करुणां,
स्मरन्ति येतं हृदयेषु नूनम् ॥२०

ऐसे श्रेष्ठ सिद्धों से घिरे हुए सिद्ध-सिद्धेश्वर महाप्रभुजी कल्याणमयी करुणा किया करते हैं। जो उन्हें अपने हृदय में भावपूर्वक स्मरण करते हैं। यह निश्चित है।

महाप्रभुर्धाम निजं विहाय,
गतः किल क्लेश निवारणाय।
जनादितानां भवतापितानां,
घोरे वनैके प्रविवेश सद्यः ॥२१

एक बार महाप्रभु अपने धाम को छोड़ भवताप से पीड़ित जनों के क्लेश-निवारण के ही उद्देश्य से शीघ्रतापूर्वक एक घोर वन में प्रविष्ट हुए।

वने जना ये मिलिताः प्रभुं तं,
साधु स्वरूपे प्रति भासमानम्।
जटा धारिणं दीप्त विशाल नेत्रं,
अवोचन् 'कुतो गच्छसि साधुश्रेष्ठ'॥२२

साधु स्वरूप में उस समय महाप्रभु को वन में जो-जो लोग मिले, उन सबने उनसे कहा- हे साधु श्रेष्ठ! आप कहाँ जा रहे हैं? महाप्रभुजी उस समय जटाधारी साधुरूप में थे तथा उनके विशाल नेत्र दीप्तमान थे।

साधो! वनेऽस्मिन् वसति हि क्रूरा,
पिशाचिनी घोरतया हि पापिनी।
यः कोऽपि मार्गे गमिता गतो वा,
सा डाकिनी निश्चितमेव हन्ति ॥२३

उन लोगों ने उन साधु महाराज से कहा- हे साधो! इस वन में तो एक क्रूर पिशाचिनी तथा घोर पापिनी नारी रहती है। वह ऐसी दुष्ट स्वभाव वाली है कि जो कोई भी इस मार्ग से गया है या जायेगा, उसको तो वह निश्चय ही मार डालती है।

वयं नैव जाने कथं सा करोति,
कथं जीवनं घृण्यतमं च तस्याः।
जाने वयं केवलमेवमेतत्,
दुष्टा हि सा 'रामरती' च नाम ॥२४

हम यह नहीं जानते हैं कि वह ऐसा क्यों करती है और उसका यह जीवन इस प्रकार से क्यों घृणित है, परन्तु हम इतना तो जानते हैं कि वह अत्यन्त दुष्ट प्रकृति की नारी है तथा उसका नाम 'रामरती' है।❀

❀ टिप्पणी—उपरोक्त श्लोकों में जिस स्त्री का चरित्र-चित्रण किया गया है, उसका नाम रामरती था। यह नर-भक्षिणी स्त्री जो श्री प्रभुजी को उनके आसाम के जंगलों में विचरण करते हुए मिली थी। अन्यत्र वर्णित रामरती एक और कन्या थी, जिसको श्री प्रभुजी ने शक्तिपात करके योगिनी बना दिया था।

विहस्य प्रभुणा कथित जनान् प्रति,
समागतोऽहं न प्रतिगमिष्ये ।
वाञ्छामि द्रष्टुं सबलां तथाऽबलां,
स्यात् कापि हानि गणयामि नैव ॥२५

महाप्रभुजी ने उन लोगों से हँसकर कहा—मैं तो अब आ गया हूँ, वापिस नहीं आऊँगा। मैं तो उस सबला (बलवाली) अबला को देखना ही चाहता हूँ, चाहे मुझे कुछ भी हानि हो जाये उसकी मैं चिन्ता नहीं करता।

इत्थं प्रभुः पादपमूलमेकं,
आश्रित्य निर्द्वन्द्व इवावतस्थे ।
जनाः सभीतास्त्वरयन्तु प्रलायिताः,
सर्वेश्वरं केवलमेव तं प्रभुम् ॥२६

ऐसा कहकर महाप्रभुजी एक वृक्ष के नीचे निर्द्वन्द्व एवं निर्भय हो बैठ गये। जो अन्य लोग थे वे डर के मारे उन्हें छोड़कर भाग गये। केवल सर्वेश्वर प्रभु ही अब वहाँ अकेले रह गये।

इतस्तु सा रामरती यदागता,
स्वस्मिन् गृहं पापपरीतकर्मभिः ।
विलोक्य सहसा पुरुषाकृतौ प्रभुम्,
रराम रूपे भगवत्स्वरूपे ॥२७

इधर वह रामरती वहाँ जब आई अपने पाप-कर्मोंसे युक्त होकर और उसने जब पुरुष की आकृति में प्रभुजी को देखा तो वह उसी समय भगवत्स्वरूप उन प्रभुजी के रूप में ही रम गई।

महाप्रभुस्तत्रापि प्रसन्नवक्त्रः,
निस्सार्य तेजः स्वकरार्द्धमध्यतः ।
मुमोच तत् रामरती तदा वै,
समाधिमाप्नोत् परमां च दिव्याम् ॥२८

प्रसन्न मुख महाप्रभुजी ने भी उसी क्षण अपनी हथेली के मध्य से प्रकाश की किरणें रामरती पर इस प्रकार डाली कि उसे परम दिव्य समाधि प्राप्त हुई।

सा ईदृशीं दिव्यसमाधिमाप्य,
लेभे गतिं या मुनयो यतन्ते ।
महाप्रभुः केवलमेव लीलया,
चकार मुक्तिं परमां हि तस्याः ॥२९

रामरती ने उस प्रकार की दिव्य समाधि की स्थिति प्राप्त की जिसे प्राप्त करनेके लिए मुनिजन यत्न किया करते हैं। महाप्रभुजी ने तो मात्र लीला के द्वारा ही उसे परम मुक्ति प्रदान कर दी।

यदा जना ये भयतः समावृताः
प्रभुं विहायाथ पलायिताः स्म ।
ज्ञात्वा महाश्चर्यमयीं स्थितिं तां,
महाप्रभुं ते शरणागताः स्म ॥३०

उधर जो लोग महाप्रभुजी को भय से छोड़कर भाग गये थे वे रामरती की इस महान् आश्चर्यमयी स्थिति को देखकर महाप्रभु की शरण में आ गये।

संवीक्ष्य सहसा महदद्भुतं तत्,
प्रभोः प्रभावं परिचिण्वतं तथा ।
सर्वे जना बद्ध करास्तदागता,
मुहुर्मुहुस्तेऽभयं च लेभिरे ॥३१

इस महान् आश्चर्य को सहसा देखकर तथा प्रभुजी के प्रभाव को पहचान कर सभी लोग उस समय हाथ जोड़े आ गये तथा बार-बार प्रभुजी से (अपनी गलतीव भ्रम की क्षमा-याचना पर) अभय-पद की स्थिति प्राप्त की।

लीलाः प्रभूणां गणयेद् कविः कः,
अनन्त रूपेषु विचारयेत् यः ।
नाहं कविः नापि च काव्यकर्ता,
यथाश्रुताम् तां च अनुवर्णयामि ॥३२

महाप्रभुजी की लीलाओं का कौन कवि गिनती करेगा? वही करेगा जो उनके अनंत रूपों पर विचार करे। मैं न तो कवि हूँ और न ही किसी काव्य का प्रणेता। मैंने तो जैसा सुना है वैसा ही कह रहा हूँ। ● क्रमशः

शिक्षागुरु और दीक्षागुरु

✿ आचार्य श्री चन्द्रहास शर्मा

गुरु एक महनीय और वन्दनीय प्रत्यय (Concept) है जिसका महत्त्वगान आदिकाल से सभी आचार्यों ने किया है। शक्ति-सामर्थ्य तथा अधिकार भेद से समय-समय पर उनके अवान्तर भेद होते रहे हैं। शब्द-ब्रह्म का ज्ञान देने वाले शिक्षा-गुरु कहलाते हैं। वे अक्षर ज्ञान देकर लौकिक दक्षता तथा संसार में कार्य एवं व्यवहार करने की योग्यता प्रदान करते हैं। इसलिए उनका दर्जा माता-पिता से बड़ा माना जाता रहा है। उनमें भी शिक्षक, उपाध्याय, आचार्य तथा गुरु आदि श्रेणियाँ हैं। माता-पिता तो जन्ममात्र देते हैं, किन्तु जन्म का प्रयोजन शिक्षा-गुरु की कृपा से स्पष्ट होता है। उनका काम मिट्टी से रत्न को साफ पोंछकर प्रकट करना है। अनेक विद्वानों तथा प्रजातीय अनुभवों से बालक को संयुक्त कर उसके सोचने, अनुभव करने तथा कार्य करने के तरीके में परिवर्तन कर उसे—समाजोपयोगी बना देना है।

दीक्षा-गुरु का कार्य इससे कहीं अधिक गुरुतर है। उनका स्थान माता-पिता से ही बढ़कर नहीं, अपितु ईश्वर से भी बढ़कर है। माता-पिता जन्म देकर संसार में फँसाते हैं, किन्तु दीक्षा-गुरु संसार में डूबने से रक्षा करता है। ईश्वर निराकार तथा कर्मानुसार न्यायकर्त्ता है, किन्तु गुरु साकार ईश्वर की अनुग्रहात्मक शक्ति है। उसकी दया से जीव ही ईश्वर बन जाता है। "जीवो ब्रह्मैव नापरः।" गुरु का अनुग्रह होने पर ही ईश्वर अनुग्रह करता है जिस प्रकार माता अपने धूल-धूसरित बालक को नहा-धुलाकर साफ-सुथरा कर देती है तब उसको पिता अपनी गोद में लेता है। गुरु जीव के आणव मलों को धोकर उसे विशुद्ध बना देता है, जिससे वह अपने सहज अनन्त चेतन स्वरूप को उपलब्ध हो जाता है। जैसे सरकारी नियमानुसार प्रशिक्षण प्राप्त व्यक्ति ही शिक्षा का अध्यापक हो सकता है। वैसे ही दीक्षा-गुरु होने का अधिकार हरएक साधक या सन्त को नहीं होता। जिसे परम सत्ता से इसका आदेश होता है, वही दीक्षा-गुरु हो सकता है। परमहंस रामकृष्ण के शब्दों में लकड़ी का टुकड़ा नदी में खुद तो तैर कर पार लग सकता है, किन्तु एक पक्षी के वजन से ही पक्षी सहित डूब जायगा। एक नौका कुछ यात्रियों को पार उतार सकती है, किन्तु हाथी के वजन से वह भी डूब जायेगी। किन्तु जहाज में हाथी भी आसानी से पार जा सकते हैं। इसी तरह दीक्षा-गुरु जहाज के सदृश महान होता है, जो स्वयं आर-पार जाने की क्षमता रखता है और दूसरे कर्मों का बोझ भी वहन करने में समर्थ होता है। जो खुद तैरना जानता नहीं और दूसरों से कहे कि हम तुम्हें नदी पार करा देंगे, भला! ऐसे की बात पर विश्वास करने से किसी का कल्याण होगा?

दीक्षा-गुरु अनादि सिद्ध ईश्वर है। वह कल्प और महा प्रलय के बाद जीवों को ज्ञान और धर्म का उपदेश देकर अपनी अहैतुकी कृपा से जीवों को कर्म-संसार में प्रवृत्त करता है तथा मुमुक्षात्माओं को मोक्षमार्ग का उपदेश करता है। वह इन्द्रादि देवों को वेदादि शास्त्रों का उपदेश करने के कारण गुरु कहे जाते हैं।[1]

---

१. गृणाति = उपदिशति वेदशास्त्राणि इन्द्रादि देवेभ्यः इति।

स पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ।

—योग-दर्शन १/२६

देव, मनुष्य, गन्धर्व आदि उनकी स्तुति करते हैं, इसलिए भी उनको गुरु कहा जाता है।1 'गु' का अर्थ अज्ञान तथा 'रु' का अर्थ प्रकाशक होता है। अज्ञान का नाशकर प्रकाश देने वाला2 तथा धर्म का उपदेश कर ज्ञान देनेवाला3 गुरु कहा जाता है। जो सिद्ध महापुरुष उस ईश्वर की ज्ञान-परम्परा को आत्मसात् कर शक्तिपात द्वारा दूसरों को देकर ज्ञान-परम्परा को आगे बढ़ाने की सामर्थ्य रखता है वही दीक्षा-गुरु पद-वाच्य हो सकता है। दीक्षा शब्द 'दीयते' तथा 'क्षीयते' दो क्रियाओं का समुच्चय है। अर्थात् जिस क्रिया में ज्ञान के प्रकाश का दान तथा अज्ञानान्धकार का क्षय होता है उस क्रिया को दीक्षा कहा जाता है। कलिकाल में सर्वत्र गुरु ही गुरु दिखाई पड़ते हैं, कोई शिष्य नहीं दिखाई पड़ता। दीक्षा संस्कार भी बिना अधिकार पाये साधक मनमुखी होकर करने लग जाते हैं, फल होता है—'आपु गये औरहु घालहिं।'

जिस प्रकार गंगा की धारा को ब्रह्म-कमण्डलु से पृथ्वी पर लाने के लिए भगीरथ को कितना तप करना पड़ा था। उसी प्रकार ज्ञान की परम्परा को प्रवाहित करने के लिए बिना तपस्या के दीक्षा की सामर्थ्य कहाँ से आ सकती है? शास्त्रागमों में ज्ञान की परम्परा के प्रवाह को 'ओघ' कहा गया है। 'ओघ' वेग जल के प्रवाह को कहा जाता है। ज्ञान का प्रवाह गंगा प्रवाह की तरह ही पृथ्वी लोक में अवतरित होता है। जैसे गंगा ब्रह्मा के कमण्डलु से भगवान् शिव की जटाओं में आई, जटाओं से हिमवान् पर्वत पर और वहाँ से शनैः शनैः मैदानों में उतर-कर महासागर में समा गई। 'ओघ' भी तीन स्तरों के कारण तीन प्रकार का कहा गया है—दिव्यौघ, सिद्धौघ और मानवौघ। ईश्वर प्रदत्त ज्ञान सृष्टि के आदि में ब्रह्मादि देवों को प्राप्त हुआ। वहाँ से हिरण्यगर्भादि सिद्धों को प्राप्त हुआ और सिद्धों से मनुष्यों को प्राप्त हुआ। इस क्रम में अधिकारी भेद से परिवर्तन भी परिलक्षित होता है। कुछ साधकों को सिद्धों द्वारा ही ज्ञान प्राप्त होता है तो किसी-किसी को हृदयस्थ अन्तर्यामी ईश्वर से ही साक्षात् रीति से ज्ञानोपलब्धि होती हुई देखी गई है। सामान्य रीति से मनुष्य को मनुष्य देहधारी किसी मनुष्य से ही ज्ञान उपलब्ध होता है। मनुष्य देहधारी गुरु की कृपा से सब कुछ उपलब्ध हो सकता है क्योंकि उससे हर शङ्का का समाधान सम्भव है। पर कठिनाई सबसे बड़ी यह है कि मनुष्य देह धारण करने पर जन सामान्य के मन में ही नहीं ज्ञानी और तपस्वी के मन में भी सन्देह और अविश्वास हो जाता है। भगवान् श्रीकृष्ण कुरुक्षेत्र के युद्ध संहार के बाद हस्तिनापुर से विदा होकर जा रहे थे। मरुभूमि में उत्तङ्क नामक ऋषि परम तपस्वी मरुभूमि में तपस्या रत थे। भगवान् ने सोचा इस तपस्वी पर कृपा करते चलें। वे जब

---

१. गीयते = स्तूयते देव मनुष्य गन्धर्वादिभिरिति गुरुरीश्वरः।

२. गिरति = निगिरति अज्ञानम्।

३. गृणाति = उपदिशति धर्ममिति गुरुः।

उनके पास पहुँचे तो उत्तङ्क मुनि अपनी तपस्या के मद में क्रोधित होकर श्रीकृष्ण को इस बात के लिए शाप देने को उद्यत हो गये कि हे कृष्ण यदि तुम योगेश्वर और सर्वसमर्थ थे तो तुम्हारे रहते यह नर-संहार क्यों हुआ ? तुमने उसे रोका क्यों नहीं । भगवान् श्रीकृष्ण ने उन्हें सावधान किया कि वे शाप न दें । क्योंकि शाप से श्रीकृष्ण का कुछ नहीं बिगड़ेगा । इसके विपरीत गुरु से प्राप्त तथा तप से सम्बन्धित मुनि की शक्ति नष्ट हो जाएगी । जब मुनि को अपनी भूल का ज्ञान हुआ तो वे शरणागत हो गये तब भगवान् ने उन्हें मोक्ष धर्म का तत्त्वज्ञान कराया । मनुष्य देह में जब-जब दैवी शक्तियाँ अवतरित हुईं वे सन्देह के घेरे में आ गईं । पात्र भेद के अनुसार ही उन्होंने जीवों का उद्धार किया । तन्त्र शास्त्रों में गुरु को ईश्वर से भी अधिक ऊँचा स्थान दिया है । ईश्वर अगर कोप कर दें तो गुरु रक्षा कर सकते हैं किन्तु गुरु के कोप से ईश्वर नहीं बचा सकता । १ गुरु तत्व के माध्यम से ही कर्म, ज्ञान और भक्ति की धाराएं निस्यन्दित होती हैं । सद्गुरु की सत्ता अखण्डमण्डलाकार है जो तीनों लोकों में जड़-चेतन सभी में व्याप्त है । सदाशिव की इच्छा से ही जीव के मन में गुरु की प्राप्ति तथा दीक्षा ग्रहण करने की इच्छा होती है । २

शिक्षा ग्रहण करने के लिए अनेक गुरुओं की आवश्यकता पड़ती है अतः ज्ञान-पिपासु शिष्य एक पुष्प से दूसरे पुष्प पर जाने वाले भ्रमर की तरह एक गुरु से दूसरे गुरु पर जा सकता है किन्तु दीक्षा गुरु एक ही होना चाहिए । दीक्षा गुरु स्वयं अपने सुसंस्कारी शिष्य को खोज लेते हैं और अपनी कृपा से उसके मन में अनुभूति कराके विश्वास उत्पन्न करा देते हैं । ज्ञान और विज्ञान दोनों में पारंगत कूटस्थ जितेन्द्रिय युक्त योगी भोग और मोक्ष दोनों की सामर्थ्य रखने वाले दीक्षा गुरु होने के अधिकारी हैं । जो केवल ज्ञान दे सकें वे अपूर्ण हैं और जो केवल विज्ञानी हों वे भी अपूर्ण हैं । दोनों पर समान अधिकार होने पर ही शिष्य का परम कल्याण हो सकता है।

कुलार्णव तन्त्र के तेरहवें उल्लास में सद्गुरु के स्वरूप का विवेचन उपलब्ध होता है । उसमें ज्ञान प्रदान की सामर्थ्य के आधार पर गुरुओं के छः भेद किये गये हैं—प्रेरक, सूचक, वाचक, दर्शक, शिक्षक और बोधक । इनमें बोधक गुरु के द्वारा दीक्षा-संस्कार सम्पन्न होने पर शीघ्र कल्याण होता है । शिव सूत्र में गुरु को उपाय कहा गया है । दीक्षा-संस्कार के द्वारा गुरु मन्त्र और मुद्रा आदि के रहस्यों को शिष्य को हृदयंगम करा देता है । जिससे मन्त्र शक्ति सम्पन्न बनते हैं और साधन पथ पर साधक आसानी से बढ़ सकता है । जब गुरु-तत्त्व का साक्षात्कार हो जाता है तो साधक स्वयं ही स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है । गुरु-दीक्षा संस्कार से देह बोध मिटाकर आत्म चैतन्य बोध करा देते हैं । दीक्षा-गुरु साधक का तीसरा नेत्र उन्मीलित कर देता है जिससे वह अविद्या की गाँठ खोल सके ।

शिष्य की पात्रता और योग्यता ही उसी प्रकार के गुरु का संयोग करा देती है । राजस्थान के प्रसिद्ध योगी सन्त चरणदास महाराज

---

१. हरौ रुष्टे गुरुस्त्राता गुरौ रुष्टे न कश्चन । —स्कन्द पुराण गुरु गीता

२. रुद्रशक्ति समाविष्टः स यियासुः शिवेच्छया ।
भुक्तिमुक्ति प्रसिद्ध्यर्थं नीयते सद्गुरुं प्रति ॥ —मालिनी विजय तन्त्र

तपस्वी थे। उनकी दीक्षा के लिए स्वयं वीतरागपरमहंस शुकदेवजी महाराज शुकताल पर उपस्थित हुए और चरणदास को दीक्षा देकर अन्तर्ध्यान हो गये। ये वही शुकदेव थे जिन्होंने राजा परीक्षित को श्रीमद्भागवत् का दिव्य ज्ञान देकर जीवन्मुक्त बना दिया था। शिष्य का जैसा भाव होता है वैसे ही उसे गुरु मिलते हैं। जो परिपूर्ण गुरु की तीव्र इच्छा लेकर स्वाध्याय परायण रहता है उसको सामर्थ्यवान् योगी गुरु अवश्य मिल जाते हैं, जो चमत्कारी गुरु के चक्कर में रहता है उसे वैसे ही गुरु मिलते हैं। गुरु कृपा के बिना कई जन्मों में अपने पुरुषार्थ के बल पर मार्ग तय होगा। होगा भी कि नहीं—इसमें भी सन्देह रहेगा। किन्तु सद्गुरु कृपा से कई जन्मों का काम थोड़े से समय में सम्भव हो सकता है। यह तभी सम्भव है कि शिष्य अपनी मनमर्जी वाला न होकर गुरु प्रत्ययी हो। अपनी मनमर्जी के अनुसार चलने वाले शिष्य को पहले समर्थ गुरुदेव भोग भुगतवाकर उसकी वासना को शनैः शनैः शान्त करते हैं। किन्तु जो गुरु के प्रति पूर्ण समर्पित हो जाता है उसे और किसीप्रपञ्च में न डालकर मोक्ष मार्ग का उपदेश करते हैं।

दीक्षा होने पर शिष्य अपनी शक्ति सामर्थ्य एवं पात्रता के अनुसार क्रमशः समयी, पुत्रक, साधक और आचार्य इन चार दशाओं से होता हुआ आगे बढ़ता है। यह क्रम शक्तिपात् की मन्द, मध्य तथा तीव्रगति पर निर्भर करता है। यदि शक्तिपात तीव्र है तो वह उच्च भूमिका पर सीधे ही पहुंच जाता है। ऐसे साधक अपवाद स्वरूप ही होते हैं जिनमें शुद्ध विद्या से चक्र-शक्ति की सिद्धि हो जाती है और प्रातिभ ज्ञान का उदय होने के कारण दीक्षा-गुरु की आवश्यकता नहीं होती। त्रिपुरा रहस्य में ज्ञान खण्ड में इस सिद्धान्त का संकेत है—'उत्तमानां तु विज्ञानं गुरुशास्त्रानपेक्षणम्' अर्थात्—उत्तम साधकों (प्रकृतिलीन योगी) को गुरु और शास्त्रों की आवश्यकता नहीं होती। वे जन्म लेते ही साधना के अग्रिम सोपान पर आरूढ़ हो जाते हैं।

पातञ्जल योग-दर्शन में ऐसे साधकों को भवप्रत्यय योगी कहा है। भवप्रत्ययी योगी में पूर्व साधना के बल से योग का अधिकार विद्यमान होता है और उनमें प्रातिभ ज्ञान उपस्थित होता है जिससे शास्त्र और गुरु के बिना भी भगवद् कृपा से उन्हें मोक्ष मार्ग का ज्ञान होता है। वे जन्म लेते ही अपनी अग्रिम साधना में संलग्न हो जाते हैं। जन्म लेते ही उनकी ध्यान समाधि उपस्थित हो जाती है। ऐसे योगी सांसिद्धिक और अकल्पित गुरु कहलाते हैं। महाप्रभु श्री रामलालजी महाराज उसी कोटि के सद्गुरु हैं। उनमें जन्म से ही योग ज्ञान प्रकट हो गया था और जीवों को दीक्षा देकर उनका कल्याण करने में प्रवृत्त हो गये थे। ऐसे सद्गुरु की दीक्षामात्र के प्रभावसे केवल गुरु-शक्ति द्वारा ही कल्याण हो सकता है। जैसा कि स्वच्छन्दतन्त्र में भी उल्लेख है—'दीक्षामात्रेण मुक्तिः स्यात् भक्तिमत्वाद् गुरोः सदा।'

दीक्षा-गुरु का कार्य बहुत कठिन है। दीक्षा का चरमलक्ष्य सामरस्य की प्राप्ति कराना है। इसके लिए योग-विज्ञान का पूर्ण ज्ञाता गुरु ही सक्षम है। सामरस्य अवस्था में पहले प्राणों का इच्छित ब्रह्मनाड़ी में संचार कराने की सामर्थ्य तथा हंस मन्त्र का अजपा-जाप कराना, कान्त का त्याग, शून्यभाव की प्राप्ति

के बाद सामरस्य अवस्था आती है। स्वच्छन्द तन्त्र के अनुसार सामरस्य की सात अवस्थायें हैं—आत्मा, मन्त्र, नाड़ी, शक्ति, व्यापिनी, समना और उन्मना। समरस भाव का अनुभव अन्तिम सोपान में होता है फिर वहाँ मोह नष्ट हो जाता है और आत्मा की प्रतीति होती है। यही गुरु पादुका या गुरु पद का स्थान है। यहीं परापश्यन्ती और मध्यमा के त्रिकोण में परमगुरु शिव का स्थान है जहाँ शिव और शक्ति का समागम होता है यह सद्गुरु साम्राज्य है। बिना समर्थ सद्गुरु के शिष्य उनकी भूमि में प्रवेश नहीं कर सकता। अतः दीक्षा गुरु कोई सामान्य बात नहीं है। दीक्षा-गुरु की सामर्थ्य और जिम्मेदारी दोनों ही महान हैं। इस महान कार्य के लिए योगपरायण गुरु-परम्परा का अनुगामी कोई विरला महापुरुष ही दीक्षा का कार्य यथार्थ रूप से कर सकता है। यदि ऐसा गुरु न मिले तो क्या दीक्षा न ग्रहण करें?

यह एक वास्तविक प्रश्न है। दीक्षाओं के अनेकों प्रकार हैं। साधक अपनी आवश्यकता के अनुकूल उस समय उपलब्ध पारंगत गुरु से ज्ञान प्राप्त करके अपनी योग्यता और पात्रता बढ़ाता रहे। समय आने पर परिपूर्ण गुरु का उस साधक पर अवश्य अनुग्रह होगा। शास्त्रकारों ने जीव को गुरु-दीक्षा अनिवार्य मानी है, क्योंकि अनादिकाल से चली आई अविद्या का क्षय केवल अपने पुरुषार्थ से सम्भव नहीं है। उपनिषद् आज्ञा देते हैं कि तत्व ज्ञान के लिये श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास समित्पाणि होकर विनय और श्रद्धापूर्वक जाना चाहिए। समित्पाणि का अर्थ है हाथ में समिधायें लेकर जाय। यहाँ 'समिधा' सांकेतिक शब्द है। समिधायें अग्नि रूप है, किन्तु अग्नि से संयुक्त हुए बिना उनका आवरण भंग नहीं होता। अतः साधक को तर्क, संशय तथा मन की वृत्तियों को गुरु के चरणों में सौंपकर पूर्ण समर्पण कर देना चाहिए। गुरु के दो विशेषण कहे गये हैं—श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ। विद्यावान् विप्र कहलाता है। संस्कारों से युक्त द्विज होता है। समाधिनिष्ठ श्रोत्रिय होता है, क्योंकि उसी अवस्था में ऋतम्भरा, प्रज्ञा द्वारा पराप्राणी का साक्षात्कार कर वह सच्चे अर्थों में वेदज्ञ बनता है। ब्रह्मनिष्ठ ब्राह्मी स्थिति है। इसका दिग्दर्शन श्रीमद्भगवद्गीता के द्वितीय अध्यायमें भलीभाँति कराया गया है—"एषा ब्राह्मी स्थिति पार्थ ! नैना प्राप्य विमुह्यति" इत्यादि।

शास्त्रकारों ने कल्याण की सामर्थ्य रखने वाले सद्गुरु के कुछ बाह्य और कुछ आंतरिक लक्षण दिये हैं, जिनसे साधक को पहचान हो सकती है। वैसे महापुरुषों और सिद्धों की पहचान उनकी कृपाके बिना नहीं हो सकती—

वे जानहि जिन देहु जनाई।
तुम्हरी कृपा तुम्हहि रघुनन्दन।
जानहि भगत भगति उर चन्दन॥

सन्तोंके पास जाते ही अङ्ग-अङ्ग शीतल और मन में प्रसन्नता आने लगती है। अपना हृदय जहाँ झुक जाय, वहीं कुछ मिलने लगता है। 'सुराही झुककर भर देती है पैमाना।' अपना अन्तःकरण सबसे बड़ी कसौटी है। सिद्धपुरुषोंको प्रकृति भी नमन करती है। जिसको तरु, पल्लव, नदी, पर्वत, पशु, पक्षी और देवता भी नमस्कार करें समझना चाहिए कि उनकी कृपा पाने से कल्याण होगा। भगवान् श्रीराम नर-रूप धारण कर लीला-यात्रा में जहाँ-जहाँ जाते, वहीं-वहीं प्रकृति उन्हें नमन करती है—

जहँ-जहँ जाहिं देव रघुराया।
तहँ-तहँ मेघ करहिं नभ छाया॥

योग-मार्ग के साधक को ऐसे गुरु से दीक्षा ग्रहण करनी चाहिए जो कुण्डलिनी प्रबोध करने में दक्ष हो। जिनको अन्तर्जगत के विज्ञान का रहस्यपूर्ण ज्ञान हो तथा आचारवान्, दयालु, उत्तम, सामुद्रिक लक्षणों से युक्त हो। महापुरुषों ने संकेत दिया है कि कैसे गुरु की सेवा और दीक्षा से कल्याण होगा—

दृष्टिः स्थिरा यस्य विनैव दृश्यात्,
प्राणस्थिरो यस्य विनावरोधात्।
चित्तं स्थिरं यस्य विनावलम्बात्,
स एव योगी सः गुरुः सः सेव्यः॥

अर्थात् जिसकी अपलक दृष्टि बिना दृश्य के स्थिर रहती है। ऐसा तभी हो सकता है जब—"अन्तर्लक्ष्य बहिर्दृष्टिः निमेषोन्मेषवर्जिता" यह तन्त्रोक्त शाम्भवी मुद्रा सिद्ध हो। जिसके बिना अवरोध के प्राण स्थिर रहते हों अर्थात् केवली कुम्भक की स्थिति सिद्ध हो तथा चित्त बिना अवलम्बन के स्थिर हो। अमनस्क योग की चरम-स्थिति की सिद्धि से ऐसा होगा। योगविद्या में पारंगत ऐसा योगी ही गुरु है और वही उपास्य है—

दूसरा लक्षण है—

आचार्यो वेदसम्पन्नो,
विष्णुभक्तो विमत्सरः।
योगज्ञो योगनिष्ठश्च,
सदायोगात्मको शुचिः॥
गुरुभक्ति समायुक्तः,
पुरुषज्ञो विशेषतः।
एवं लक्षण सम्पन्नो,
गुरुरिति अभिधीयते॥

आचारवान्, वेदज्ञ, ईश्वरभक्त तथा सर्वहितकारी, योगज्ञ तथा योगनिष्ठ योग की भूमिकाओं में रहने वाला, पवित्रात्मा, गुरुभक्त तथा प्रकृति-पुरुष, विवेक-प्राप्त, विवेकख्यातियुक्त महापुरुष गुरु कहे जाते हैं। दीक्षा की सामर्थ्य वाले गुरु त्यागी और तपस्वी होते हैं। निग्रह और अनुग्रह में समर्थ होते हैं उनके दर्शन मात्र से मन प्रसन्न हो जाता है। त्रिकालदर्शी, आज्ञा-सिद्ध, दयालु, गम्भीर, भक्त-वत्सल, धीर, कृपालु, स्मित एवं वाणी बोलने वाले, दंभाहंकार रहित, नियम-पालन में दृढ़, स्त्रीधनादि में अनासक्त, जितेन्द्रिय आदि विशिष्ट गुणों से युक्त गुरु से दीक्षा ग्रहण करने का विधान है। दीक्षागुरु शिष्य की परीक्षा करके दीक्षा दें अन्यथा जैसे मन्त्रीकृत पाप का राजा को तथा पत्नीकृत पाप का फल पति को भोगना पड़ता है, उसी प्रकार कुत्सित शिष्य को दीक्षा देने से उसका पाप गुरु को भोगना पड़ेगा। अतः शास्त्र में (कुलार्णव तंत्र में) यह निर्देश है कि दीक्षागुरु विभिन्न उपायों से एक वर्ष पर्यन्त या छः मास अथवा कुछ काल तक शिष्य की परीक्षा ले। विधि-विधानपूर्वक शिष्य को दीक्षा देकर उसमें चिति का स्फुरण कराये। अतः समर्थ गुरुदेव से दीक्षा ग्रहण कर जीवन को श्रेयमार्ग पर ले चलें। कुलार्णव तंत्र का वचन है कि दीक्षाविहीन की न सद्गति होती है और न सिद्धि। अतः सद्गुरु से दीक्षित होना चाहिए—

देवि दीक्षा विहीनस्य,
न सिद्धिर्न सद्गतिः।
तस्मात् सर्व प्रयत्नेन,
गुरुणा दीक्षितो भवेत्॥

—कुलार्णव १४ उल्लास ८

महारास लीला :

योग-भूमिका में सामाजिक चेतना

डा० श्री रमेशचन्द्र मिश्र

रासलीला के सन्दर्भ में दार्शनिक, भक्ति सम्बन्धी और कलात्मक विवेचन-विश्लेषण अन्यत्र बहुत हो चुका है, परन्तु योग के परिप्रेक्ष्य में रासलीला की सांस्कृतिक एवं सामाजिक चेतना के सन्दर्भ में पर्याप्त विवेचन की संभावना बनी हुई है। चैतन्य महाप्रभु के शब्दों में इस लीला के तत्त्व को कोई-कोई भाग्यवान् ही देख पाता है—

'नित्य लीला करें यदुराय।
केउ केउ भाग्यवान् देखते पाय॥'

—चैतन्य चरितामृत

वे भाग्यवान् कौन हैं? यह जानने के लिए प्रस्तुत लेख में भागवत् प्रतिपादित महारास के तत्त्वदर्शन और अष्टछाप के कवियों, विशेषतः सूरदास द्वारा रासलीला वर्णन में साहित्यिक और कलात्मक दृष्टिकोण के साथ उनकी सामाजिक चेतना को रेखांकित करने का प्रयत्न किया गया है। जिसके कारण 'रासलीला' कृष्ण लीलाओं में सबसे महत्त्वपूर्ण और प्रभावशाली बनी ही रही है, यह भारत का प्रथम 'विरेचन सिद्धान्त' भी माना जा सकता है। वास्तव में 'रासलीला' सत्त्व-पुष्ट लोक-व्यवहार की मायनी है।

सूरदास सहज प्रेरणा के कवि हैं। रासलीला प्रसङ्ग में सूरदास के साथ ही अन्य सखाओं के नाम भी उल्लिखित होते हैं। अष्टछाप के कवि, जिन्होंने सख्य-भाव से श्रीकृष्ण-श्रीनाथ जी की भक्ति को प्रमुखता दी है, 'अष्टसखा' के नाम से जाने जाते हैं। ये अष्टसखा—१. कृष्ण, २. तोक, ३. अर्जुन, ४. वृषभ, ५. सुबल, ६. श्रीदामा, ७. विशाल और ८. भोज। ये सभी बाल और किशोर लीलाओं के संगी-साथी हैं। ये सभी आयु, शील व व्यसन में कृष्ण के समान ही माने गये हैं। यह माना जाता है कि अष्टछाप के भक्त कवियों के रूप में अष्ट-सखाओं ने ही अवतार धारण किया है। इनमें सूरदास को श्रीकृष्ण-चम्पकलता, परमानन्ददास को तोक-अनुभागा, कुम्भनदास को अर्जुन-विशाखा, कृष्णदास को वृषभ-ललिता, छीतस्वामी को सुबल-पद्मा, गोविन्द स्वामी को श्रीदामा-भामा, चतुर्भुजदास को विशाल-विमला और नन्ददास को भोज-चन्द्ररेखा का स्वरूप माना गया है। श्रीनाथ जी की भक्ति श्रीकृष्ण का 'पुष्टिमार्गीय विग्रह मानी गई है। इन कृष्ण-भक्त कवियों ने गोपी-गोपी भाव की भक्ति अनेक रूपों में प्रस्तुत की है, अर्थात् यह भक्ति आयु में बड़े, बराबर के तथा आयु में छोटे के सम्बन्ध रूपों में देखने को मिलती है। पुष्टिमार्गीय यह भक्ति सूरसागर, गौड़ीय, वैष्णव सम्प्रदाय के साहित्य में देखने को मिलती है। इनमें तो इन अष्टसखाओं के नाम मिलते ही हैं, साथ ही विष्णु-पुराण, भागवत्-पुराण, पद्म-पुराण, वैवर्त-पुराण आदि पौराणिक साहित्य में भी इनके नाम उल्लिखित हैं।

इतिहास के परिप्रेक्ष्य में अष्टछाप की स्थापना महाप्रभु वल्लभाचार्य के तृतीय पुत्र

गोस्वामी विट्ठलनाथ जी ने संवत् १६०२ विक्रम में की थी और वे स्वयं ही सं० १६०७ विक्रम में इस पुष्टि संप्रदाय के प्रथम आचार्य बने। वार्ता की सं० १६९७ विक्रम की प्रति में 'अष्टछाप' शब्द का प्रयोग मिलता है। इससे पहले 'अष्टसखा', 'अष्ट-कीर्तनकार' आदि नाम प्रचलित थे। 'अष्टछाप' का लिखित रूप आचार्य गोकुलनाथ ने प्रचलित किया। वास्तव में 'अष्टसखा' नाम से कृष्ण-भक्ति धारा का साम्प्रदायिक और 'अष्ट-छाप' नाम से साहित्यिक रूप का परिचय मिलता है। माना जाता है कि महाप्रभु वल्लभाचार्य के आशीर्वाद की मौखिक छाप लगने के बाद श्रीनाथजी गोवर्धन में प्रकट हुए और तब ही वे 'अष्टसखा' भी गोवर्धन प्रदेश में आविर्भूत हुए। महाप्रभु वल्लभ जब सं० १५४९ विक्रम में प्रथम बार ब्रज पधारे, तभी उन्होंने गोवर्धन मन्दिर की प्रतिष्ठा की थी। जब वे दूसरी बार सं० १५५६ वि० में ब्रज आये तो अम्बाला के सेठ पूरनमल के आर्थिक सहयोग से गोवर्धन में बड़े मंदिर की स्थापना हुई और तीसरी बार सं० १५६६ वि० में ब्रज पधारने पर उन्हें सूरदास और कृष्णदास का साक्षात्कार हुआ था।

अष्टछाप के कवियों ने सख्यभाव पर आधारित भक्तिभाव को बहुत व्यापक फलक प्रदान किया है। यद्यपि राधावल्लभ संप्रदाय में 'सखीभाव' की भक्ति है, जिसमें राधाकृष्ण की कुञ्जक्रीड़ा, सुख-विलास और सखीभाव-जन्य हावभावों के ही ललित-मधुर चित्रण की प्रधानता है। इस 'सखीभाव' को ही 'संयोग-सुख लीला' नाम से भी जाना जाता है, किन्तु अष्टछाप के कवियों द्वारा वर्णित भक्ति, सम्प्रदाय के धरातल पर प्रतिष्ठित होते हुए इसमें भी मानव के व्यक्तित्व को, उसके सात्विक और शुद्ध मनस्तत्व को, सर्वोच्च उत्कर्ष प्रदान किया गया है। यही नहीं अष्ट-छाप के कवियों के काव्य में कला का उत्कर्ष, मनोवैज्ञानिक तत्त्व का उद्घाटन तथा तत्का-लीन ऐतिहासिक, सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्ति के साथ ही भाव की ऐसी तात्त्विक और सात्विक अवस्था की ओर आरोहण है, जिसमें एक सामाजिक अपनी सम्पूर्ण वृत्तियों के कल्मष को धोकर, विरेचित होकर सम्यक् अवस्था में पहुँच सकता है। यहाँ पहुँचकर वैयक्तिक कुण्ठाएँ, सामाजिक जातिगत सीमाएँ तथा विधि निषेध दूर ही छूट जाते हैं और सत्व की पृष्ठभूमि में जब जिस मनोराज्य का अनुमोदन होता है, वह किसी भी समाज के लिए एक आदर्श बन सकता है। वहाँ न किसी प्रकार की पीड़ा है और न अभाव। क्योंकि वहाँ सामाजिक ऊँच-नीच की धारणा लुप्त हो जाती है। अष्टछाप के कवियों द्वारा वर्णित 'रासलीला' उसी मनोराज्य की एक सर्वोच्च भावभूमि है। इस भावभूमि का मूलाधार भागवत है।

श्रीमद्भागवत् में 'रासलीला' का व्यापक परिवेश प्रस्तुत किया गया है। यह महारास उत्सव शरदोत्सव के रूप में ही उल्लिखित है। शरद्ऋतु में जब बेला-चमेली महक रही हों, चन्द्रमा प्राची दिशा में अपनी किरणों से हल्की अरुणिमा बिखेर रहा हो, जिसे देखकर प्राची-प्रिया को प्रसन्न कर रहा हो, तब रात्रि के उस प्रथम प्रहर में किसका मन प्रफुल्ल और असीम नहीं हो उठेगा। देखिये—

भगवानपि ता रात्रीः शरदोत्फुल्लमल्लिकाः।
वीक्ष्य रन्तुं मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रितः॥

तदोडुराजः ककुभः करैर्मुखं,
प्राच्या विलिम्पन्नरुणेन शन्तमैः ।
स चर्षणीनामुदगाच्छुचो मृजन्,
प्रियः प्रियाया इव दीर्घदर्शनः ॥
—श्रीमद्० महा० १०/२९/१-२

प्रश्न उठता है कि युवती गोपियों द्वारा तरुण श्रीकृष्ण, जिन्हें लोक-मर्यादा में पर-पुरुष कहा जा सकता है, के शरीर का, उस मधुर शरद रात्रि के एकान्त में, स्पर्श और आलिंगन कहाँ तक विहित माना जाए? क्या यह 'जार भाव' नहीं माना जा सकता? इसका उत्तर शुकदेव मुनि ने राजा परीक्षित को इस प्रकार दिया है कि 'विरहाग्नि' की तीव्रता में कामना-आसक्ति का कल्मष स्वतः ही भस्म होकर निःशेष हो जाता है और श्रीकृष्ण तो अच्युत पुरुष के रूप में भावबद्-कार के प्रेरक बिम्ब रहे हैं। अतः लीला में सम्मिलित होने के लिए, भागीदार को प्राकृत गुणमयी विचार को परित्याग करना पड़ता है—

अन्तर्गृहगताः काश्चिद् गोप्योऽलब्ध-
विनिर्गमाः ।
कृष्णं तद्भावनायुक्ता दध्युर्मीलितलोचनाः ॥
दुःसहप्रेष्ठविरहतीव्रतापधुताशुभाः ।
ध्यानप्राप्ताच्युताश्लेषनिर्वृत्या क्षीण-
मङ्गलाः ॥
तमेव परमात्मानं जारबुद्ध्यापि संगताः ।
जहुर्गुणमयं देहं सद्यः प्रक्षीणबन्धनाः ॥
—श्रीमद्० महा० १०/२९/९-११

इसी प्रसंग में श्रीकृष्ण ने गोपियों को रात्रि के एकान्त में न रहने एवं स्त्रियों के परमधर्म पति एवं परिवार जनों के बीच मर्यादा भाव से सेवा करने की प्रेरणा दी (दे० श्रीमद्० महा० १०/२९/२१-२६) उन्होंने बताया कि कुलीन स्त्रियों द्वारा जारपुरुष की सेवा सब प्रकार से निन्दनीय है—'जुगुप्सितं च सर्वत्र औपपत्यं कुलस्त्रियाः।' वास्तव में सामाजिकता अथवा सर्वमयता में आने पर वैयक्तिकता की आसक्ति भी सत्वभाव से पुष्ट हो उठती है, कला की साधना में चेतना का विरेचन हो जाता है। सांस्कृतिक ऊर्जा और अध्यात्म दृष्टि की प्रधानता के कारण ही कृष्ण की वाणी से गोपियों का विरहजन्य ताप जो शमित हुआ हो, चेतना की विशदता में, प्रकृति के उस अभिषेककारी वातावरण में प्रकृति पुरुष के सौन्दर्य-माधुर्यमय स्वरूप में तदाकार भावलीनता के कारण चेतना-मुक्ति का अनुभव हुआ। तन्मयता की इस भाव-भूमि में गोपियों का रास निरत होना परम-पद वाली परम सामाजिकता का ही परि-णाम है। इसी भाव को शास्त्रकारों ने 'परा-भक्ति' नाम दिया है, जिसमें हृदय रोग अर्थात् काम विकारों से छुटकारा पा जाता है। रास-साधना में ऐसी विराट् भूमिका के दर्शन-भावन अथवा अनुभवन से आसक्ति जनित संकीर्णता स्वतः तिरोहित हो जाती है। देखिए—

भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं,
हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः ।
—श्रीमद्० महा० १०/३३/४०

और इस भावभूमि में जो कला साधना की जाती है, वह निश्चित ही सामाजिक-सांस्कृतिक योगानुशासन की परम सामा-जिक अर्थात्—अध्यात्म चेतना ही होती है, जो भारतीय चिन्तन में अपनी मूल्यवत्ता स्वतः निर्धारित कर चुकी है। मध्यकाल के कृष्णभक्ति धारा में श्रीमद्भागवत् वर्णित रासलीला का प्रभाव और प्रेरणा स्वतः सिद्ध

है, किन्तु उसके कलात्मक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक पक्षों का विवेचन अपरिहार्य है, तभी योग-भूमिका की समग्रता सामने आ सकती है। योग चिन्तन 'जीवन' में अन्तर्मुक चिन्तन है। जीवन से अलग-थलग योग का कोई अर्थ नहीं है। भारतीय तत्त्वदर्शक मनीषियों ने योग की चित्तवृत्ति निरोधक शक्ति साधना को समाज, साहित्य, संस्कृति, कला और अध्यात्म की चेतना में ऐसा पिरो दिया है, कि उसे अलग करके देख पाना असम्भव ही है।

'रासलीला' अथवा 'रासोत्सव' का सात्त्विक और प्रक्रियात्मक विवेचन इस प्रकार है। 'रास' शब्द वास्तव में रस के बहुवचन अथवा देश भाषण के शब्द 'रास' से व्युत्पन्न है। इसमें पुरुष-स्त्रियों के परस्पर (हाथ बांधकर) मण्डलाकार नृत्य के रूप में, गोपिकाओं के बीच एक कृष्ण के अनेक रूप धारण करने के रूप में, परम्परा से सिद्ध रहा है। श्रीमद्भागवत का साक्ष्य है कि—

रासोत्सवः सम्प्रवृत्तो गोपीमण्डल मण्डितः।
योगेश्वरेण कृष्णेन तासां मध्ये द्वयोर्द्वयोः॥

—श्रीमद्भागवत १०/३३/३

अतः यह 'रास' शब्द एक पारिभाषिक शब्द है जो 'महारास' के रहस्यलीला अर्थ में प्रचलित और प्रयुक्त होता है। अभिनय की दृष्टि से यह लोकनाट्य का एक प्रमुख अङ्ग है, जिसे सोलहवीं सदी में आचार्य वल्लभ और हितहरिवंशादि महात्माओं ने, लोक प्रचलित शृंगार रस में, नृत्य संगीत की सूक्ष्म अन्विति करके, राधा एवं अन्य गोपियों के साथ, रसिक शिरोमणि श्रीकृष्ण को केन्द्र में प्रतिष्ठित किया है। श्रीमद्भागवत की टीका में श्रीधर स्वामी ने 'बहुनर्तकि युक्तोः नृत्य विशेषो रासः' तथा आचार्य वल्लभ ने अपनी सुबोधिनी टीका में 'लीला नाम विलासेच्छा' (तृतीय स्कन्ध) में जिसमें, बहुत सी नर्तकियाँ हों, रस की अभिव्यक्ति को उस रसयुक्त नृत्य को 'रास' कहा है। लोक में 'लीला' शब्द अभिनय अथवा प्रदर्शन से जुड़ा हुआ है, क्योंकि लीला कृष्ण से सम्बद्ध हो गई है और चरित कथन से। 'लीला' कृष्ण के साथ जुड़ी है तो 'चरित' राम के साथ। यद्यपि, बाद में 'रामलीला' का भी विकास हुआ है।

'रासलीला' के स्वरूप को दो रूपों में प्रस्तुत किया जा सकता है—आन्तरिक रहस्य प्रधान अर्थात् तात्त्विक रूप में, तथा बाह्य व्यवहार प्रधान। आन्तरिक रहस्य का सम्बन्ध आनन्द अर्थात् रस के आस्वादन से है। यह आन्तरिक आनन्द लोक मनोभूमि को ऊँचा उठाने में, समरसता की स्थिति प्रतिष्ठित करने में सहायक होता है। तब वही लोकोन्मुखी आनन्द कहलाता है। 'रास' का यह आनन्द काम-वासना को पराजित करके ही, उसे शमित करके ही, अनुभव किया जा सकता है। उस अवस्था में 'स्व' भाव को 'उत्' भाव में, 'अहं' को विराट् में समर्पित करने की धारणा प्रधान होती है। इसी अर्थ में रासलीला सामाजिक-भाव शुद्धीकरण का माध्यम बनी रही है। रासलीला सांसारिक आसक्ति, राग-द्वेष के बन्धन को शिथिलित करने में सहायक होती है वास्तव में शुद्ध आसक्ति की निवृत्ति पर ही निष्काम भाव का उदय होता है। वैसी मनोभूमि में प्रतिष्ठित सामाजिक चेतना में सेवा भाव सहज ही, हृदय की गहराइयों से उगने लगता है, वह किसी प्रकार से आरोपित नहीं होता। रासलीला का मनोराज्य सामूहिक

उत्कर्ष-समतल भूमि प्रस्तुत करने के लिए प्रवर्तित होता है। इस अर्थ में श्रीकृष्ण अक्षर ब्रह्म है और गोपियाँ सिद्धात्माएं। आत्म-समर्पण भाव के माध्यम से गोपियाँ स्वतः परमेश्वर कृष्ण को प्राप्त करने की अधिकारिणी बन जाती हैं। (पद्मपुराण,पाताल खण्ड, ८१/६९-८३) आचार्यों की मान्यता है कि उस नित्य निरन्तर होते रहने वाली लीला को देख पाने की क्षमता जीव सृष्टि में नहीं है। इसीलिए लोक कल्याणार्थ ही रास-लीला को प्राकृत रूप में उतारा गया है।

कृष्ण कवियों की इस रासलीला का व्यापक प्रभाव रहा है। इसलिए योग पर-म्परा में, निर्गुण धारा के सन्त कवियों के रूपकों में रासलीला का महत्व वर्णित रहा है। जहाँ कृष्ण स्वयं अक्षर ब्रह्म हैं और गोपियाँ साधक-सिद्ध जीवात्माएँ। समर्पण का भाव वहाँ भी प्रधान है। निर्गुण विचार-धारा में संसार सत्ता के केन्द्र में ब्रह्म सत्ता मानी गई है। निर्गुण चेतना में भगवान कृष्ण 'तत् पदार्थ हैं और गोपियाँ त्वम् पदार्थ' इन दोनों के संयोग रूप में जीव-ब्रह्म ऐक्य ही 'रासलीला' है। वंशी ध्वनि ही अनहद नाद। अनेकानेक नाड़ियाँ ही गोपियाँ हैं और केन्द्रस्थ कुण्डलिनी ही 'राधा' है। सहस्रदल कमल ही गोकुल-वृन्दावन का रास स्थल है। वहाँ पहुँचकर जीवात्मा की सम्पूर्ण शक्तियाँ, ईश्वरीय विभूति के साथ, रास रचती हुई नृत्य करती रहती हैं और केन्द्रीय दिव्य पुरुष कृष्ण, पूर्णानन्द की अभिव्यक्ति करते हैं।

सौर विज्ञान की दृष्टि से भी रासलीला के स्वरूप की व्याख्या की जा सकती है। सौर जगत् में 'सूर्य' केन्द्र में है। उसके आस-पास ग्रह-उपग्रहों की मण्डली है, जो अपने केन्द्र के गुरुत्वाकर्षण के अनुसार गति-ग्रहण करते हुए गतिमान बने रहते हैं। यह ब्रह्माण्ड की, विराट् की, रासलीला कही जा सकती है। 'यत् ब्रह्माण्डे तत् पिण्डे' की संगति पर ब्रह्माण्ड के समान पिण्ड में भी रासलीला का अनुवर्तन होता रहता है। जैसे ब्रह्माण्ड का केन्द्र सूर्य है, वो शरीर का केन्द्र हृदय। उससे ही शक्ति-गति ग्रहण करते हुए सभी अङ्ग-प्रत्यङ्ग थिरते और नृत्य करते रहते हैं। अतः तात्विक दृष्टि से कह सकते हैं कि इस पिण्डा-कार विश्व-वृत्त का केन्द्र बिन्दु परमात्मकृष्ण ही है और जीवात्माएँ 'रेखाएँ' हैं जो केन्द्र के चारों ओर परिधि रूप में व्याप्त हैं।

परम्परागत विकास की दृष्टि से श्रीमद्-भागवत में राधा-कृष्ण के रास का वर्णन नहीं मिलता। हाँ, शारदीय रासलीला का ही वर्णन है। देखिये (१०/२९/३३; १०/३३/८) 'ब्रह्मवैवर्तपुराण' के कृष्णजन्म-खण्ड (अध्याय ६२) में एकान्त रासलीला का वर्णन 'राधा-माधव-रास' की संज्ञा से अभिहित हुआ है। 'हरिवंश पुराण' में स्वयं श्रीकृष्ण रास की इच्छा करते हैं—

कृष्णस्तु यौवनं निशि-निशि चन्द्रमसो वनम्।
शारदीं च निशां रम्यां मनश्चक्रे रतिं प्रति॥
—हरिवंश पुराण १/१०/१५

गीतगोविन्दकार जयदेव और मैथिल कोकिल विद्यापति ने 'वासंती रासलीला' का मनोहारी वर्णन किया है। अष्टछाप के कवियों ने विशेषतः सूरदास ने रासलीला की दोनों प्रवृत्तियों का समन्वय करके, रासलीला वर्णनमें अध्यात्म, कला, संस्कृति और समाज के आयामों को संगुम्फित करके बड़े कौशल से प्रस्तुत किया है। सूरदास के रासलीला-वर्णन की सुविधा के लिए हम तीन रूपों में

व्यवस्थित कर सकते हैं—१. पात्रों की दृष्टि से—कृष्ण-गोपी, राधाकृष्ण-गोपी एवं राधा-कृष्ण के मंवित रूप में। २. समय की दृष्टि से—वासन्ती रासलीला, शारदीय रासलीला के रूप में। ३. स्थान की दृष्टि से—गोकुल-वृन्दावन में, मथुरा में और द्वारिका में रासलीला।

यद्यपि भागवत में राधा का उल्लेख नहीं है, किन्तु अष्टछाप के कवियों ने विशेषतः सूरदास ने गोलोकधाम के 'नित्यरास' और इस लोक के कृष्णावतार के समय 'नैमित्तिक रास' का एकीकरण करके राधा-गोपी-कृष्ण-लीला का वर्णन किया है। इन्होंने राधा को श्रीकृष्ण की शक्ति के रूप में देखा है और बाँसुरी को कृष्ण की प्रेम स्वरूपा शक्ति बताया है, इसे 'योगमाया' भी कहा गया है। रास के प्रसंग में मुरली-ध्वनि गोपिका रूप प्रबुद्ध जीवात्माओं का आह्लाद करती है। मुरली की ध्वनि कानों में पड़ते ही लौकिक सीमायें, वाह्याडम्बर विनष्ट हो जाते हैं और जीवात्मा लौकिक बन्धनों से मुक्त हो जाती है। सूर साहित्य में एवं कृष्ण लीलाओं के तात्त्विक विवेचन में प्रबुद्ध जीवात्मा रूप गोपिकाएँ श्रीकृष्ण की विभक्त आत्माएँ ही हैं। इन गोपियों को लेकर ही श्रीकृष्ण सुख-मयी रजनी में वंशीधुन करते हुए यमुना तट पर रास रूप में अलौकिक रस की वर्षा करते हैं। इस अलौकिक आनन्द की अनुभूति भक्त-कवि साधकों के लिए अभिव्यक्ति की समस्या बनी ही है। इस अलौकिक अनुभव की असामर्थ्य को स्वयं भक्त-कवि सूरदास ने कहा है कि रास रस की अनुभूति को अभि-व्यक्ति देने के लिए वैसी ही बुद्धि, वैसा ही मन और वैसा ही चित्त कहाँसे लाया जाय?

रास-रस-रीति नहिं बरनि आवै।
कहाँ वैसी बुद्धि, कहाँ वह मन लहौं,
कहाँ यह चित्ति जिय भ्रम भुलावै॥

—सूरसागर १०/१६२४

किन्तु कवि-भक्त साधक आनंद के सागर की रस हिलोरों को कितना ही पचाये, अनु-भूति के रसकण रासलीला के पदों में छलक ही पड़े हैं। इन आनन्द सीकरों का आचमन करके लौकिक छल प्रपंचमयी वृत्ति कहाँ तक साधु नहीं बनेगी? अर्थात् रास के परिवेश में सामाजिक परिस्करण अवश्यम्भावी है, कुछ बगुलों, शूकरों और कूकरों को छोड़कर। भक्त-कवि नन्ददास ने तो रास-रसके अनुभव को 'उज्ज्वल रस' की संज्ञा प्रदान करते हुए उसकी नित्यता, दिव्यता और अलौकिकता को स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है—

नित्य रास रस,
नित्य गोपी जन बल्लभ।
नित्य निगम यों कहत,
नित्य नवतन अति दुल्लभ॥
यह अद्भुत रसरास कहत,
कछु कहि नहिं आवै।
सेष सहसमुख गावैं,
अजहुँ पार न पावैं॥

श्रीमद्भागवत में रासोत्सव के सम्बन्ध में जो चाक्षुष बिम्ब प्रस्तुत हुए हैं, वे निश्चित ही परवर्ती रासलीलाकारों के प्रेरणास्रोत रहे हैं। ये चाक्षुष बिम्ब संगीत की रागमयता के कारण नाद-सौन्दर्य से युक्त तो हैं, हाँ, साथ ही रंग-आभाओं के कारण भी नृत्य छवियाँ युग-युगों से, दृश्य और नाद के माध्यम से ही नहीं, श्रुत एवं पठित रूप में भी, भारतीय जन-मानस को अभिभूत करने में सक्षम रही हैं। ऐसे दृश्यों को देख-सुनकर

जाति-कुल की सारी सीमाएँ विगलित हो जाती हैं और चेतना का 'अहम्' अस्मिता की 'समता' में प्रतिष्ठित होकर आह्लादित होता रहता है। उदाहरण प्रस्तुत है—

वलयानां नूपुराणां किङ्किणीनां च योषिताम्,
सप्रियाणामभूच्छब्दस्तुमुलो रासमण्डले। ६
तत्रातिशुशुभे ताभिर्भगवान् देवकी सुतः,
मध्ये मणीनां हैमानां महामरकतो यथा। ७
पादन्यासैर्भुजविधुतिभि सस्मितैर्भ्रू विलासै-
र्भज्यन्मध्यैश्चलकुचपटैः कुण्डलैर्गण्ड लोलैः।
स्विद्यन्मुख्यः कबररशनाग्रन्थयः कृष्णवध्वो
गायन्त्यस्तं तडित इव ता मेघचक्रे विरेजुः ॥८

—श्रीमद्० महा० १०/३३

अर्थात् रासमण्डल में जब सभी गोपियाँ प्रिय कृष्ण के साथ नृत्य करने लगीं, तब उनकी कलाइयों के कंगन, पगों के पायजेब एवं करधनी के छोटे-छोटे घुँघरू एक साथ बज उठे। असंख्य गोपियों के कारण यह नृत्य की मधुर ध्वनि बड़े तुमुल रूप में हो रही थी। यमुना की रमण रेती पर ब्रजांगनाओं के बीच देवकीसुत कृष्ण की शोभा अद्भुत थी। तब ऐसा जान पड़ता था जैसे असंख्य पीली-पीली चमकती हुई स्वर्ण मणियों के बीच नीलमणि दमक रही हो। नृत्य निरत गोपियाँ भाँति-भाँति ठुमकते हुए अपने पाँवों को कभी आगे बढ़ाती हैं तो कभी पीछे हटा लेती थीं। कभी नृत्य गति के अनुसार पग धीरे-धीरे रखती तो कभी बड़े वेग से रखती थीं। कभी चाक की तरह चक्राकार घूमती, तो कभी हाथ ऊँचा करके भाव दर्शाती थीं। कभी कलापूर्ण ढंग से मन्द स्मिति छिटकातीं, तो कभी भृकुटि-विलास से मोहक होतीं। नृत्य करते हुए उनकी तन्वी कटि ऐसी लच-कती कि मानो टूट रही हो। झुकने-बैठने-उठने और नृत्य गति की स्फूर्ति से उनके उरोज हिल रहे थे और वस्त्र उड़े जा रहे थे। कर्ण-कुण्डल हिल-हिलकर कपोलों पर आ रहे थे। नृत्य श्रम के कारण मुख प्रस्वेद-बिन्दुओं से शोभित हो रहा था। वेणी ढीली हो रही थी। नीवी ग्रन्थि शिथिल हो रही थी। इस प्रकार नटवर नन्दलाल के साथ प्रेयसी गोपियाँ गा-गाकर नृत्य कर रही थीं। तब ऐसा लग रहा था मानो मेघमण्डलाकार श्रीकृष्ण (रों) के बीच में गौरांगी गोपियाँ विद्युत्-आभा वाली हो रही हों। 'महारास' की कला में नृत्य निरत श्रीकृष्ण के द्वारा प्रियांगनाओं का अंग स्पर्श करना एवं तिरछी चितवन से लीला उन्मुक्त मंद हँसी हँसने को भागवत्कार ने शिशु द्वारा अपनी परछाईं से, निर्विकार भाव द्वारा खेलने के रूप में निरूपण किया है। महारास की इस नृत्य साधना में शिशुवत् क्रीड़ा में कितनी सात्वि-कता, सहजता और तन्मयता का अनुभव होता है। देखिए—

एवं परिष्वङ्गकराभिमर्श,
स्निग्धेक्षणोद्दाम विलास हासैः।
रेमे रमेशो व्रज सुन्दरीभि-
र्यथार्भकः स्वप्रतिबिम्बविभ्रमः ॥

—श्रीमद् भागवत १०/३३/१७

वैसे तो अष्टछाप के सभी कवियों की रचनाओं में भागवत वर्णित रास की परि-स्थिति गति-ताल और रसोद्रेक की कसौटी साकार हो उठी है, किन्तु सूरदास का रास-लीला का वर्णन अत्यन्त मार्मिक एवं काव्य-कला, संगीत, नृत्य-कला तथा सामाजिक चेतना की दृष्टि से प्रभावी और बहु-आयामी कहा जा सकता है। सूर ने रासलीला संबंधी लगभग २०० पदों की रचना की है। अधि-

कोश पद कृष्ण वंशी ध्वनि की अलौकिक सामर्थ्यसे परिपूर्ण हैं। मुरलीधुन से आकर्षित और मुग्ध होकर गोपियों का हृदय उमड़ पड़ता है। संयोग पक्ष की यह परिस्थिति सूर के 'रास' वर्णन में ही चरमोत्कर्ष को प्राप्त हुई है। सूर में रास स्थली और परिवेश तो देखिए—वह है शारदीय पूर्णिमा, प्रकृति की गोद, यमुना का तट, न अधिक उष्ण न अधिक शीत। ऐसे परिवेश में कौन हीनमति व्यक्ति अपनी कलुषवृत्ति लेकर वहाँ पहुँचेगा? वह तो अपनी दुष्ट वृत्तियों का परित्याग कर सात्त्विक भाव-गंगा में स्नान कर ही वहाँ पहुँचने के लिए अनुप्रेरित होगा और ऐसा नहीं कर पाता तो वह निश्चित ही अभागा और क्षुद्र वृत्तियों वाला सिद्ध होगा। सूर में प्रकृति का पावन स्पर्श देखिए—

आज निसि सोभित सरद सुहाई।
सीतल मन्द सुगन्ध पवन बहै,
रोम-रोम सुखदाई॥
जमुना पुलिन पुनीत, परम रुचि रचि
मण्डली बनाई।
राधा बाम अंग परिकर धरि,
मध्यहिं कुँवर कन्हाई॥

—सूरसागर १०/१७५६

सूर के रासलीला के पद हमें आज भी 'ग्राम-चेतना' की ओर आकर्षित करते हैं। वास्तव में सूर ने उस ग्राम्यता में भी दिव्यता का दर्शन किया है। रासलीला के पद ग्राम-चेतना में सांस्कृतिक दिव्यता के कलश हैं।

सूरदास के अनेक पदों में नृत्य-मुद्राओं की समग्र परिस्थिति और हावभाव, चित्र से भी अधिक सजीव रूप में चित्रित हुए हैं। ऐसा लगता है मानो ताल-लय, ध्वनि-गति, वर्ण-आकार, स्थिति और क्रियाएँ ऐसे बिन्दु पर केन्द्रित हो गई हैं, जहाँ चाक्षुष और नाद-बिम्ब आँखों के सामने सादृश्य प्रत्यक्ष उपस्थित कर रहे हों। देखिये—

नृत्यत स्याम नाना रंग।
मुकुट लटकनि भृकुटि मटकनि धरे
नटवर अंग॥
चलत गति कटि क्वणित किंकिनि घुंघुरू
झनकार।
मनो हंस रसाल-बानी सरस-परस बिहार॥

× × × ×

कबहुँ नृत्यत नारि गति पर,
कबहुँ नृत्यत आपु।
सूर के प्रभु रसिक की,
भनि रच्यो रास प्रतापु॥

—सूरसागर १०/१६७४

वर्णयोजना, वर्णमैत्री, ध्वन्यात्मक शब्दों के चयन आदि ने 'स्थिति' को 'गति' में अंकित कर दिया है। लगता है सूर के रासलीला के पद तो चाक्षुष बिम्बों का सागर ही है। वर्ण-ध्वनि के योग से सूर ने गतिशील बिम्बों को जिस रूप में उतारा है वह उनकी दृष्टि की अनुपम शब्द ज्योति है। ऐसी गतिमय मोहक स्थिति में यदि मन ऊर्ध्व होकर लीन हो जाय तो फिर कौनसा भौतिक ताप व्यक्ति को अभावों का भास करा सकता है? मुरली धुनि का अद्भुत आकर्षण जिसके कर्ण कुहरों में एक बार ठगौरी डाल दे, तो फिर उसके अलौकिक प्रभाव से कौन उसे मुक्त कर सकता है? उस तन्मयता में तो जीवन का गोरख-धंधा छूट ही जाता है, क्योंकि यह गोरख-धंधा बुद्धि-चातुर्य का ही परिणाम है, परन्तु जब यह बुद्धि किसी 'परम' को समर्पित हो जाती है, तो उस जलावस्था में भी सुख-सन्तोष अथवा आनन्द का अनुभव होता है।

वह आनन्द प्रत्येक सामाजिक के लिए परम प्रेय और परम श्रेय से कम नहीं है। यह 'रासरस' लोकानुभूत सुखों तथा ब्रह्मानन्द से विलक्षण होते हुए भी सर्वथा लोकानुकूल है। इसकी भावनासे वृत्ति विरेचित होकर सात्विक बनती है। रास एवं मुरली की धुनि सुनकर ब्रजांगनाओं की मनोदशा तो देखिए, न जाने बुद्धि कहाँ विमुग्ध हुई पड़ी है—

मुरली सब्द सुनि ब्रजनारि।
करति अंग शृंगार भूलीं,
काम गयो तनुमारि॥
चरन सों गहि हार बाँध्यो,
नैन देखत नाहि।
कंचुकी कटि साजि,
लहँगा धरति हिरदय माहि॥
चतुरता हरि चोरि लीन्हीं,
भईं भोरी बाल।
सूर प्रभु अति काम मोहन,
रास रुचि नंदलाल॥
—सूरसागर १०/१६१८

उस अलौकिक मुरली धुनि के सुनाई दे जाने पर संकीर्ण 'काम' का बिसर जाना अवश्यम्भावी है और चतुरता समाप्त होने पर वह भोलापन प्राप्त हो ही जाता है। वह भोलापन अजातांत्रिक अधिकार की तुलना में चाहे नगण्य समझा जाय, किन्तु जो अनुभव समृद्धि मिलती है, उसके समकक्ष तीनों लोकों का राज्य फीका दिखाई देता है, जिस चारित्रिक निष्ठाका 'आचरणशील' बनकर संचरण करता है, वह किसी भी समाज की महानता के लिए अभीप्सित हो सकता है। अष्टछाप के कवियों में, विशेषतः सूरदास ने रासलीला के पदोंके माध्यम से रूप माधुर्य, केलि माधुर्य और रति माधुर्य का वर्णन 'उज्ज्वल रस' के रूप में किया है। वास्तव में कृष्ण-भक्ति विषयक शृंगार रस अपने आध्यात्मिक रूप में माधुर्य भाव की भक्ति है और रासलीला प्रेम की विभोरता में सामाजिक के आह्लाद, मादकता, गति और तादात्म्य का संकेत रूप है। अतः कह सकते हैं कि सामाजिक चेतना के उत्कर्ष-प्रकर्ष के लिए रासलीला की तात्विकता में भारतका 'विरेचन सिद्धांत' विद्यमान है। इसी तत्त्व का दर्शन कर अंधे कहे जाने वाले सूरदास ने जो सार्वभौम रूप निहारा है उस पर लाख-लाख आँखें बलिहारी हो सकती है। देखिये—

श्रीगुपाल रस रूप भरी
हैं सूर स्नेह सुहाग।
ऐसो सोभासिन्धु बिलोकति
इन अँखियन के भाग॥

रासलीला के ऐसे भावों में तन्मय होने पर लौकिक देह-भावना अथवा काम-भावना कहाँ टिक सकती है और यदि टिकती है तो यह जीव का, जीवन का दुर्भाग्य ही है। इसलिए रासलीला भारतीय भक्त-साधकों की सबसे ऊँची स्थिति है। सूर ने रासलीला के माध्यम से लोकानुराग को, काम को विराट् की ओर उन्मुख किया है। उस 'परम' की लीला में तन्मय हो जाना, प्रेम चक्षुओं से मानसत्व को भेदकर, लीलाभाव का अनुभव करके उसमें ही स्थित हो जाने से बढ़कर जीवन का और क्या चरम लक्ष्य हो सकता है? बुद्धि-जन्य ज्ञान से परम-तत्त्व अगम्य ही बना रहता है, क्योंकि बुद्धि का क्षेत्र है काल, देश, समय सीमा, देश सीमा, लौकिक ज्ञान सीमा, चेतना का और आत्मा अंश है—कालातीत बेहद, अक्षरातीत अक्षर और अकाल तत्त्व। बुद्धि सीमा को लाँघकर जब

चित्शक्ति

ब्रह्मलीन स्वामी मुक्तानन्द परमहंस

सिद्ध-विद्यार्थियों के शरीर से चिति-शक्ति का एक प्रवाह बाहर निकलता रहता है। हमारे गुरुदेव की प्रत्येक क्रिया में चिति की किरणें प्रवाहित होती थीं। किसी पर भी उनके लग जाने से उसे दिव्यानुभूति हो जाती थी। ऐसे सिद्धपुरुषों की प्रत्येक क्रिया में 'चित्शक्ति' ही कार्यान्वित होती रहती है। उनकी कहीं भी अंगुली लग जाये तो उसमें से शक्ति दूसरे के अन्दर प्रविष्ट हो जाती है। उनके शरीर का कहीं भी स्पर्श जाये, वहीं शक्ति गिर जाती है। उनका पहना हुआ कपड़ा पहनने से भी उनकी शक्ति का अन्दर प्रवेश हो जाता है। इसलिए हे सिद्धविद्यार्थियो, जहाँ तुम्हारा ध्यान होता है वह देवघर बनता है। जहाँ तुम्हारा रहना होता है वह महातीर्थ होता है। तीर्थों की तुमसे ही पवित्रता है। मन्त्र को तुमसे चैतन्यता प्राप्त होती है। बहिरंग योग की उपासना करने वालों के जो आसन, मुद्राएँ, प्राणायाम आदि योग के अंग हैं, वे तुम्हारे स्पर्श से दूसरों में अपने आप क्रियाशील हो जाते हैं। तुम्हारे श्वास-प्रश्वास बहुमूल्य हैं। यह सदा याद रखो कि तुम्हारे रोम-रोम से चितिकिरणपुंज बाहर निकलते हैं। इसलिए तुम्हें यह ज्ञान होना चाहिए कि जिसमें सर्व मंगलों की मंगल, परमाराध्य देवता 'चित्शक्ति' क्रियारूप में मूर्तिमंत होकर निवास करती है वह सिद्धिक्षेत्र तुम ही। श्री गुरु ही पारमेश्वरी अनुग्राहिका शक्ति के रूप में तुम सबके अंदर बैठे हैं। अपने को छोटा मत समझो, नादान मत समझो, अथवा अपने को कम उम्र के और पराधीन भी मत समझो। जिसके प्रभाव से यह जगत है, जो स्वयं जगद्रूप है, ऐसी जगत को सिद्ध करने वाली चिति पारमेश्वरी तुममें प्रत्यक्ष रूप से रहती है। इसलिए तुम तीर्थों के तीर्थ हो, मन्त्रों के मन्त्र हो, देवताओं के देवता हो और पूजा की पवित्रता हो। अपनी इस योग्यता को समझकर सावधानी और निर्मलता से, जितना बने उतना मौन रहकर, सदाचार-परायणता से अपना जीवन बिताओ। पाश्चात्य, दिखावटी और भ्रष्टशील रीति-नीति के भावावेश में मत जीओ।

एक बार मैं बम्बई गया था। वहाँ कोई एक बड़ा ऑफिसर मुझे मिलने आया जिसका नाम मैं नहीं लेना चाहता। मैंने पूछा 'अकेले क्यों आये जी, अम्मा किधर है?' उसने बताया, 'बाबाजी, वह स्कूल गयी है।' मैंने

जाती है, पर सत्-चित्-आनन्दमयी चेतना अपने स्वभाव में लीन होकर भगवान् की लीला में विलास करती है। इसलिए लीला का रासलीला का कोई प्रयोजन नहीं बताया गया, वह स्वयं में अपना लक्ष्य है।

संक्षेप में कहें तो कह सकते हैं कि रासलीला, का वैयक्तिक और सामूहिक लक्ष्य है। यह सात्त्विक भाव की लीला मनुष्य मात्र को उद्धारके लिए तो है ही, प्राणिमात्र के उन्नयन तक परिव्याप्त है और सही अर्थों में एक ओर प्रेम का रंग प्रकट हो जाय, तो लौकिक सम्बन्धों का नानात्व स्वतः समाप्त होकर सत्यमय सामूहिकता को प्राप्त हो जाता है। रासलीला 'अकाल तत्त्व' में प्रतिष्ठित कर देती है। अतः रासलीला भाव में प्रवेश के लिए लौकिक नानात्वकी शुद्ध वासना, ममता तथा स्वीय अहंभाव का त्याग आवश्यक है और इसलिए भारतीय भक्तिसाधना में रासलीला विरेचन अथवा शुद्धीकरण का सर्वोच्च स्वरूप है। ☐

आश्चर्य से कहा 'अरे, इस उम्र में स्कूल!' उसने उत्तर दिया, 'बाबाजी, वह डान्स स्कूल गयी है।' उसके चले जाने के बाद मैंने दूसरों से पूछा कि 'यह डान्स स्कूल क्या है? तब उन लोगों ने बताया कि ऐसे स्कूल में नयी पद्धति का पाश्चात्य 'डान्स' सिखाया जाता है जिसमें हाथ-पाँवों की क्रियाएँ करनी होती हैं। मैंने सोचा, 'यह डान्स तो नंगा नाच है।' किसी दूसरे पुरुष के अंग स्पर्श से सीखे हुए नंगे नाच की तुलना में कुण्डलिनी-जागरण के प्रभाव से हमारे सिद्धविद्यार्थियों और सिद्धविद्यार्थिनियों का शालीन, भावमुद्रायुक्त, कलात्मक नृत्य कितना उत्तम है। ऐसे पाश्चात्य डान्स तुम जैसे पवित्र सिद्धविद्यार्थियों के योग्य नहीं। फिर पश्चिम में एक और प्रथा है कि छोटे-छोटे बालक-बालिकाएँ एक दूसरे के साथ सटे हुए रहते हैं, बिना कारण बोलते-चालते, हँसते-कूदते हैं। इस तरह रहने से उनका पठत्व बढ़ रहा है। तुम इसका अनुकरण मत करो। तुम्हारी अन्तर-शक्ति कुंठित हो जायेगी। मैं तुमसे एक और बात याद रखने के लिए कहता हूँ कि वीर्य त्याग से मल त्याग श्रेष्ठ है। यह बात केवल ब्रह्मचारियों, संन्यासियों और साधुओं के लिए ही नहीं है; क्योंकि उनका न तो औरत से सम्बन्ध है और न संसार से है। यह बात संसारियों के लिए है। तुम संसार में रहो, मस्त रहो। पति-पत्नी परस्पर देव समझकर अति प्रेम से रहो। अपना तेज बढ़ाओ। जैसे एक-एक पैसा जमा करके बचत करते हो, वैसे ही वीर्य की बचत करो। तुम सबको याद रखनी चाहिये कि वीर्य के एक बिन्दु से एक तेजस्वी मनुष्य पैदा हो सकता है। उस बिन्दु के तेज की कीमत का स्मरण रखो। इस तेज के चले जाने पर कितनी भी लाली लगाओ, पाउडर-क्रीम लगाओ, शरीर निस्तेज ही रहता है। यह तेज चित्शक्ति का वाहन है, उससे चिति को खरीदा जा सकता है। यह कुण्डलिनी को क्रियाशील बनाने का यन्त्र है। समाधि को स्थिर करने का परम साधन है। जो मानव वीर्यहीन है उसकी क्या दशा होती है, इसको बारीकी से देखो।

☞ उत्तिष्ठत! जाग्रत! प्रातः काल भगवान मरीचिमाली स्वयं ही आकर हमारी निद्रा पर आघात करते हैं। समस्त रात्रि की निद्रा एक मुहूर्त में भंग हो जाती है। किन्तु सन्ध्या के अन्धकार को कौन दूर करेगा? दिन भर की चिन्ताएँ और कर्म की व्यवस्था से चित्त को बाहर निकालकर निर्मल उदार शांति के धाँच में किस प्रकार पहुँचाया जाए? समस्त दिन एक मकड़ी की भाँति जाले पर जाला बुनकर हम नाना दिशाओं में जकड़े हुए हैं। चिरन्तन सत्य से एकदम ओट में रहे हुए हैं। इस समस्त जाल को काटकर चेतना को अनन्त में जाग्रत करके किस प्रकार रखें? इसलिए ओ भगवान, उठ जाग, जब दिन नाना कर्म, नाना प्रवृत्ति के भीतर एक-एक लपेट द्वारा हमें जकड़ता रहता है, तो ऐसे समय यदि हम बीच-बीच में अपनी चेतना को सतर्क न करते रहें, 'उत्तिष्ठत जाग्रत' का मन हमारी अन्तरात्मा में ध्वनित न होता रहे तो हम उसमें उलझ कर अपंग हो जायेंगे। इसलिए जीवन के सब कर्मों के मध्य भी इकतारे की यह ध्वनि उठती रहे।

—रवीन्द्रनाथ टैगोर

मानवतावादी कबीर

❀ डा० विजयेन्द्र स्नातक

'संस्कृति की चाहे जितनी परिभाषायें हो जायें किन्तु पर-दुःख कातरता और अपरिग्रह से बड़ा कोई दूसरा गुण संस्कृत व्यक्ति में नहीं होता। मानवतावाद में विश्वास रखने वाला व्यक्ति ही यथार्थ में सभ्य एवं सुसंस्कृत पुरुष होता है। कबीर ने अपने जीवन में दूसरों के लिए कष्टों को स्वीकार किया पर उनका जीवन जनता के उद्बोधन में ही व्यतीत हुआ। वह अपने लिए नहीं दूसरों के लिए ही रोते और विलाप करते रहे।'

प्रस्तुत है इस लेख में कबीर के उद्बोधन की मानवतावादी विशेषताओं का उपयुक्त विवेचन।

—सं० सी०

भारतवर्ष के मध्ययुगीन इतिहास की सबसे प्रमुख घटना भक्ति-आन्दोलन है। भक्ति एकान्तिक—व्यक्तिनिष्ठ साधना है। मध्य युग में इस एकान्तिक साधना को ऐसी उर्वर भूमि में पनपने का मौका मिला कि यह एकान्तिक भक्ति-साधना समाज से सम्पृक्त हो गयी। लोक मानस के साथ भक्ति का कुछ ऐसा सम्बन्ध स्थापित हुआ कि भक्त साधकों की वाणी लोक-वाणी बनकर गूंजने लगी। उत्तर-भारत में भक्ति को सर्वसाधारण तक पहुँचाने का श्रेय सबसे पहले रामानन्द को तथा उसके बाद भक्त कबीर को दिया जाता है। रामानन्द ने भक्ति को एकान्तिक साधना मानते हुए भी मानवमात्र के लिए सुलभ बनाया था, तो कबीर ने उसे लोक-मानस में सहजता के साथ बैठने का मार्ग बताकर शास्त्र के बंधनों से मुक्त किया था। भक्त कबीर ने यह अनुभव कर लिया था कि शास्त्र-मर्यादा के साथ सम्प्रदाय निष्ठा अनायास ही जुड़ी रहती है। और शास्त्र तथा सम्प्रदाय की सीमा में रहकर मानवमात्र के लिए भक्ति का सर्व-सुलभ-पथ प्रशस्त नहीं किया जा सकता। भक्ति-पथ के दो बड़े अवरोध हैं, शास्त्र और सम्प्रदाय, जो भक्ति-भावना को अनाविल भले ही रखते हों किन्तु सहज और सरल नहीं रहने देते। कबीर सहज में आस्था रखने वाले मानववादी व्यक्ति थे। इस्लाम को स्वीकार करने पर भी मजहबी कट्टरता से वह कोसों दूर थे। उनका कोई मानव कसौटी पर विवेक की जो खरी लीक बनती उसे ही कबीर साहब सही मानते। अनुभव की तुला पर तथ्य और सत्य को परख कर ग्रहण या त्याग की पद्धति ही उनका जीवन क्रम बन गया था।

मानवता और भक्ति का प्रत्यक्ष गोचर सम्बन्ध कबीर से पहले नारद और शाण्डिल्य के भक्ति सूत्रों में भी लक्षित हुआ था, किन्तु वह पुस्तकीय सन्देश था जो शिक्षित वर्ग की सीमा का अतिक्रमण नहीं कर सका। उनके सूत्रों की मर्यादा में शास्त्र मर्यादा की प्रच्छन्न गन्ध थी जो अपनी गरिमा-बोध न छोड़ सकने के कारण सामान्यजन में व्याप्त न हो सकी। जब रामानन्द ने अपनी शिष्य-परम्परा में उस वर्ग के व्यक्तियों का समावेश करना प्रारम्भ किया जो सामाजिक स्तर के नाम पर निम्न वर्ग के समझे जाते थे, तब भक्ति का पथ यथार्थ रूप से मानवतावादी दृष्टि से

प्रशस्त हुआ। कबीर ने इसी मानवतावादी दृष्टिके उन्मेष में व्यापक स्तर पर योग दिया। भक्ति को व्यष्टि-साधना के साथ समष्टि-हित में प्रयोज्य बनाना ही सच्ची मानवतावादी दृष्टि समझी जाती है। कबीर की भक्ति-पद्धति में यह दृष्टि सबसे अधिक गहराई तक लक्षित होती है, उनकी रचनाओं से भी इस तथ्य की पुष्टि करना आवश्यक समझता हूं।

कबीर का व्यवसाय धर्मोपदेष्टा या पुजारी का व्यवसाय नहीं था। जीविका के लिए तो वह जुलाहे का धन्धा करते थे जिसे सामाजिक धरातल पर ऊंचा धन्धा उस युग में नहीं समझा जाता था। स्वयं कपड़ा बुनने और दूसरों से कपड़ा बुनवाने में बड़ा अन्तर है। आज के मिल मालिक कपड़े की विशाल मिलें खड़ी करके दूसरों से कपड़ा बुनवाते हैं। बुनने वाले मिल मजदूरों की संख्या प्राप्त करते हैं। पराधीन होकर दूसरों के लिए कपड़े बुनने में स्वातन्त्र्य और स्वाभिमान का ह्रास अवश्यम्भावी है। कबीर ने स्वतन्त्र रहते हुए, स्वाभिमान की रक्षा करते हुए जुलाहे का व्यवसाय अपनाया था, अतः अपने व्यवसाय की शब्दावली, प्रतीक एवं अप्रस्तुत योजना का अपने काव्य में उपयोग किया था। वह मिल मजदूर न होकर मालिक और स्रष्टा दोनों थे। सर्जन का सुख उनके व्यवसाय के माध्यम से उन तक पहुंचता था, इसीलिए किसी को आश्रित बनाकर सुख-भोग की कल्पना उनके पास नहीं थी। व्यवसाय के माध्यम से कबीर ने छोटे-बड़े के भेद को दूर करने का प्रयत्न किया था। वह कदाचित् पहला प्रयोग था जबकि एक भक्त और महात्मा ने अपने साधारण धन्धे का परित्याग किए बिना महत्व और गौरव के गिरिशृंग का स्पर्श किया। इस तथ्य से कबीर की इस दृष्टि निष्ठा का बोध होता है कि मानव-मानव के बीच भेद पैदा करने में केवल वर्ण, जाति व धर्म ही साधक नहीं होते वरन् व्यवसाय और धन्धों के आधार पर भी समाज में ऊंच-नीच का भेद किया जाता है। कबीर ने इस भेद को चुनौती देकर अपने धन्धे को आजन्म स्वीकार किया। बात छोटी है किन्तु बड़े तत्व दर्शन की ओर इंगित करती है। कबीर बड़े गर्व और अभिमान से कहते हैं—

"जाति जुलाहा मति को धीर,
हरषि-हरषि गुण रमै कबीर,
मेरे राम की अभै पद नगरी,
कहै कबीर जुलाहा—
तू बामन मैं कासी का जुलाहा।"

मानवतावाद की स्थापना के लिए कष्ट-सहिष्णुता, तितिक्षा, परदुःख-कातरता और अपरिग्रह की नितान्त आवश्यकता है। ये गुण संस्कृत एवं सभ्य व्यक्ति के जीवन में सबसे अधिक मात्रा में पाये जाते हैं। संस्कृति की चाहे कितनी ही गम्भीर और जटिल परिभाषाएं की जायं, किन्तु परदुःख कातरता और अपरिग्रह से बड़ा कोई दूसरा गुण सुसंस्कृत व्यक्ति में नहीं होता। मानवतावाद में विश्वास रखने वाला व्यक्ति ही यथार्थ में सभ्य एवं सुसंस्कृत पुरुष है। कबीर ने अपने जीवन में दूसरों के लिये कष्टों का स्वीकार किया था—उनका जीवन जनता के उद्बोधन में ही व्यतीत हुआ। वह अपने लिए नहीं संसार के लिये रोते और विलाप करते रहे। उन्होंने सांई के सब जीवों के

लिए अपना अस्तित्व समर्पित कर दिया था, संसार के लिये उन्होंने अपने आपको मिटा दिया था—

सुखिया सब संसार है, खावै और सोवै,
दुखिया दास कबीर है, जागे और रोवै।

मानव-मानव में भेद उत्पन्न करने वाले बाह्याडम्बरों, मजहबों, रूढ़ियों और अन्ध-विश्वासों के प्रति जैसा कठोर रुख कबीर ने अपनाया वैसा किसी और साधु-सन्त या भक्त ने नहीं अपनाया। उनकी मान्यता थी कि मानवमात्र की उत्पत्ति एक ही ज्योति से हुई है—एक ही ईश्वर सबमें व्याप्त है। प्रकृति ने भी सबको एक से उपकरण दिए हैं, फिर ये भेद क्यों स्वीकार किये जायें? और क्यों ऊँच-नीच की खाई खोदकर मनुष्य-मनुष्य के बीच घृणा का व्यापार चलाया जाय—

एक बूंद एक मल-मूतर,
एक चाम एक गूदा।
एक ज्योति तें सब उपजा
कौन ब्राह्मण कौन सूदा?
× × × ×
एकै पवन एक ही पानी,
करी रसोई न्यारी जानी।
माटी सूं माटी लै पोती,
लागी कहौ कहाँ सूं छोती॥
धरती लीप पवित्तर कीनी,
छोति उपाय लोकविधि दीन्हीं।
याका हमसूं कहौ बिचार—
क्यूं भव तिरिहौ इहि आचार॥

वर्णाश्रम धर्म की मर्यादा के नाम पर उस समय हिन्दू समाज में छुआछूत के साथ जातियों की अस्पृश्यता का मिथ्या प्रचार हो गया था, उसको कबीर ने कभी स्वीकार नहीं किया। कोई भी मानवतावादी व्यक्ति इस प्रकार की संकीर्ण भावना को समाज में जीवित नहीं देख सकता। कबीर जैसे निर्भीक और सत्यवादी पुरुष को तो यह कलंक कभी सुहाया ही नहीं। उन्होंने बड़े कठोर स्वर में इस सामाजिक कलंक को मिटाने के लिये घोषणा की। जन्मजात जाति को भी कबीर ने स्वीकार नहीं किया। सदैव उनकी वाणी से यही स्वर गूंजता रहा कि हम सब हरि की निर्मल ज्योति के स्फुलिंग हैं, इसमें न तो प्रकाश का भेद है और न वर्ण का। ब्राह्मण और शूद्र का भेद तो वह मानते ही नहीं थे—वह तो तुरक-तुरकी अर्थात् मुसलमान को भी जन्म से मानने को तैयार न थे—

जो तू बामन-बंभनी जाया,
तो आन-बाट ह्वै क्यों नहीं आया।
जो तू तुरक-तुरकनी जाया—
तो भीतर खतना क्यों न कराया॥

इतनी स्पष्ट और कठोर भाषा में कदाचित् किसी सन्त, भक्त या महात्मा ने जातिवाद, धर्मवाद और वर्णवाद पर प्रहार नहीं किया। इस प्रकार की कठोरता में ही कबीर की दृढ़ निष्ठा छिपी हुई है। बिना किसी लाग-लपेट के अपनी बात को सबके समक्ष रखने के लिये जो साहस सच्चे धार्मिक व्यक्ति में होता है वह कबीर के पास अतिरिक्त मात्रा में था। इस कथन में मानवात्मा की समता और एकता की स्थापना है, इसीलिए यह अक्खड़ कथन भी भोंडा नहीं लगता।

कबीर के सम्बन्ध में कहा जाता है कि वह भक्त होने के साथ समाज-सुधारक थे। हिन्दू-मुस्लिम ऐक्य के समर्थक थे तथा किसी

मतवाद में बँधे न होने के कारण स्वतन्त्र उपदेष्टा थे, किन्तु यह कथन कबीर के जीवन मिशन को चरितार्थ करने वाला नहीं।

कबीर के जीवन का प्रमुख लक्ष्य मानवमात्र में समता और एकता स्थापना ही था। कबीर न तो समाज-सुधारक की भांति किसी सामाजिक जीवन-दर्शन का उपदेश देने आये थे और न धर्म या जाति में एकता स्थापित करना उनका ध्येय था। यथार्थ में वह तो ईश्वर भक्ति के साथ अपने जीवन को शान्ति से व्यतीत करना चाहते थे किन्तु जब उन्होंने अपने चारों ओर धर्म के नाम पर मानव-मानव के बीच भेदों की खाई देखी, छल-कपट का व्यवहार देखा, वर्ण-भेद के कारण दुःख-दैन्य का प्रसार देखा तो वह अपने सुख को छोड़ मानव की पीड़ा दूर करने में मनोयोगपूर्वक जुट गये। वह यह भी भूल गये कि जिस समाज और युग में वे रह हैं, उसमें सुधार करना इतना सरल नहीं, जितना वह समझ बैठे थे। किन्तु 'मनस्वी कार्यार्थी न गणयति सुखं न च दुःखम्' को अपनाकर उन्होंने मानव जाति के बन्धन-मोचन का बीड़ा उठाया था। हिन्दू और मुसलमान दोनों जातियों के अन्ध-विश्वासों पर कठोर प्रहार करते समय उनको यह स्मरण नहीं रहता था कि कोमलता के स्पर्श की इच्छा रखने वाली जाति इस प्रकार से तिलमिला उठेगी। वह तो जान-बूझकर ऐसा प्रहार करते थे, किन्तु दोनों जातियाँ उनको कठोर कर्कश जानते हुए भी प्यार से अपनाना चाहती थीं। यही कबीर की सबसे बड़ी विजय है। यह मानवतावाद की ही विजय समझी जानी चाहिए।

कबीर का धर्म, भक्ति और प्रेम का मार्ग था। उनका विश्वास था कि मनुष्य को यदि कहीं सुख प्राप्त हो सकता है तो वह केवल ईश्वर-भक्ति में ही और यदि दूसरों के साथ रहकर सन्तोष हो सकता है तो प्रेम के राज्य में। जहाँ ईश्वर-भक्ति नहीं, वह स्थान रहने योग्य नहीं और जहाँ प्रेम नहीं वह स्थान श्मशान के समान है। कबीर के जीवन का लक्ष्य बहुत ही स्पष्ट था। उन्होंने मजहब और मतवाद का ढकोसला त्यागकर अपने लिए जो मार्ग स्वीकार किया वह इस दोहे में अङ्कित है—

निरवैरी निहकामना, साँई सेती नेह।
विषया सूं न्यारा रहे, सन्ता का अंग एह॥

वैर विहीन, कामना विहीन होकर केवल स्वामी (ईश्वर) से नेह, रखना, विषय-वासनाओं से दूर रहकर साधु-सन्तों के समीप रहना, यह जीवन-ध्येय मनुष्यमात्र के लिए ग्रहण करने योग्य हो सकता है। इसमें जाति, वर्ण, धर्म, मत कोई बाधक नहीं। इसीलिए कबीर ने अपने धर्म को सहज धर्म का नाम दिया ताकि सहज की प्राप्ति के लिए कठोर साधना और प्रपञ्च का मार्ग न अपनाना पड़े। कबीर का सहज देखने में सहज होते हुए भी वास्तविक सहानुभूति से ओत-प्रोत है—

सहज-सहज सब कोई कहै,
सहज न चीन्हैं कोइ।
जिन सहजैं विषया तजी,
सहज कहीजै सोइ॥

यह सहज-मार्ग मानव-धर्म का सबसे सुखद और सुकर मार्ग है। जो इस पर आरूढ़ हो जाता है, प्रपंचादि से उसकी मुक्ति हो जाती

है। कबीर ने जब अपने लिये मानवतावाद का मार्ग अपनाया तो उन्होंने कठोर साधनाओं और धर्माडम्बरों की त्यागना आवश्यक समझा। परिणाम यह हुआ कि मानव मात्र कबीर की वाणी और उनके सन्देश के समीप पहुँचने में सफल हुआ। कबीर ने कभी किसी मतवाद या पन्थ का प्रवर्तन नहीं किया था। यदि वह ऐसा करते तो समस्त धर्माडम्बरों के विरोधमें कैसे बोलते रहते? स्पष्ट है कि उनके नाम से पंथ का प्रवर्तन उस युग की परिपाटी-अन्ध भूल का परिणाम है। किसी भी महापुरुष के शिष्य इस परिपाटी का पालन करके अपनी जीविका, प्रतिष्ठा और महिमा का पथ प्रशस्त कर लेते हैं, किंतु यह उन महापुरुषों को कभी अभिप्रेत नहीं होता, जिनके नाम से यह पन्थ व्यापार चलता है।

मानवतावादी कबीर ने ईश्वर-भक्ति के प्रपंचों को भी चुनौती देने का साहस दिखाया था। कदाचित् उनसे पहले इतने निर्भीक और तटस्थ भाव से किसी और सन्त ने यह पराक्रम नहीं किया था—

यह सब झूँठी बन्दगी, बिरथा पंच नवाज।
साँचे मारे झुठि पढ़ि—काजी करैं अकाज॥
कर से तो माला जपैं, हिरदे बहै डडूल।
पग तो पाला में गिल्या—भाजन लागी सूल॥

× × × ×

जप तप संजम पूजा—अरचा,
जोतिस जग बौराना।
कागद लिखि-लिखि जगत भुलाना,
मन ही मन न समाना॥

संक्षेप में, कबीर ने खण्डनात्मक शैली से जो कुछ कहा उसमें मानवतावाद की ही पुकार है—किसी धर्म से द्वेष या वैमनस्य नहीं। कुछ आलोचकों ने उनकी इस प्रखरता को दोष मानकर उन्हें केवल समाज सुधारक ठहराया है जो उनकी मूल भावना के साथ पूरी तरह मेल नहीं खाता। वस्तुतः कबीर तो मानवप्रेमी और मानवतावादी महा पुरुष थे। भगवान् में अटूट विश्वास के कारण नर में नारायण की प्रतीति ने उन्हें मानवतावाद की ओर उन्मुख किया था। इसलिए किसी मानव से उन्होंने कभी घृणा या द्वेष का व्यवहार नहीं किया। नर में नारायण को देखने के कारण ही उनकी दृष्टि सच्ची आस्तिक भावना से ओत-प्रोत हो गयी थी। ❁❁

कौन रंगरेज ?

सेमल को लाल सुमन किये हैं कहाँ से,
पीले-पीले पुष्प दिये किसने बबूलों को।
तूली तूलिकायें ले—ले कैसे साजता है कौन,
सुललित लतिका के कलित दुकूलों को।
'हरिऔध' किसके खिलाए कलियाँ हैं खिलीं,
दे दे दान मंजुल मरंद अनुकूलों को।
किसने रँगीली साड़ियाँ हैं तितली को मिलीं,
कौन रंगरेज रँगता है इन फूलों को?

'हरिऔध'

जगत-पति को श्याम में है विलोका

—श्री हरिऔध

जो आता है न जन-मन में जो परे बुद्धि के है।
जो भावों का विषय न बना नित्य अव्यक्त जो है।
है ज्ञाता की न गति जिसमें इन्द्रियातीत जो है।
सो क्या है, मैं अबुध अबला जान पाऊँ उसे क्यों ॥१॥

शास्त्रों में है कथित प्रभु के शीश औ लोचनों की।
संख्यायें हैं अमित पग औ हस्त भी हैं अनेकों।
सो हो के भी रहित मुख से नेत्र नासादिकों से।
छूता, खाता, श्रवण करता, देखता, सूँघता है ॥२॥

ज्ञाताओं ने विशद इसका मर्म यों है बताया।
सारे प्राणी अखिल जग के मूर्तियाँ हैं उसी की।
होती आँखें प्रभृति उनकी भूरि-संख्यावती हैं।
सो विश्वात्मा अमित-नयनों आदि-वाला अतः है ॥३॥

निष्प्राणों की विफल बनतीं सर्व-गात्रेन्द्रियाँ हैं।
है अन्या शक्ति कृति करती वस्तुतः इन्द्रियों की।
सो है नासा न दृग रसना आदि ईशांश ही है।
हो के नासादि रहित अतः सूँघता आदि सो है ॥४॥

ताराओं में तिमिर-हर में वह्नि-विद्युल्लता में।
नाना रत्नों, विविध मणियों में विभा है उसी की।
पृथ्वी, पानी, पवन, नभ में, पादपों में, खगों में।
मैं पाती हूँ प्रथित-प्रभुता विश्व में व्याप्त की ही ॥५॥

न्यारी-सत्ता जगत-गत की नित्य लीला-मयी है।
स्नेहोपेता परम-मधुरा पूतता में पगी है।
ऊँची-न्यारी-सरस सरला ज्ञान-गर्भा मनोज्ञा।
पूज्या मान्या हृदय-तल की रंजिनी उज्वला है ॥६॥

मैंने की हैं कथन जितनी शास्त्र-विज्ञात बातें।
वे बातें हैं प्रकट करती ब्रह्म है विश्व-रूपी।
व्यापी है विश्व प्रियतम में, विश्व प्राण प्यारा।
यों ही मैंने जगत-पति को श्याम में है विलोका ॥७॥

गुडाकेश

● श्री शिवानन्द

महापुरुषों को चारित्रिक उपलब्धियों की सम्मान-सूचक उपाधियों से विभूषित करना आर्य संस्कृति की परम्परा रही है। गुणीजनों के गुणोंका समादर करने से समाज में गुणों की प्रस्थापना एवं वृद्धि होती है। रामायण तथा महाभारत में गुण प्रकाशक विशेषणों का प्राचुर्य है। व्यवहार में ऋजुता (सीधापन, स्पष्टता) होने के कारण तृतीय पाण्डव का नाम 'अर्जुन' हुआ और उसे 'गुडाकेश' आदि अनेक उपाधियाँ भी प्राप्त हुईं। 'गुडाकेश' का अर्थ है निद्राजित, गुडा (निद्रा) को जीतने वाला। यह मन तथा इन्द्रियों पर विजय पाकर ही संभव होता है।

निद्रा पर आंशिक विजय नेपोलियन ने भी प्राप्त की थी। वह युद्धकाल में कई दिनों तक अश्वारूढ़ रहते हुए अश्व-पृष्ठ पर ही चलते-चलते सो लेता था। ऐसी ही किंवदन्ती हैदरअली सुल्तान के बारे में भी है। आज-कल अन्तरिक्ष यात्रियों को किसी भी समय आदेश पाते ही सो जाने का अभ्यास कराया जाता है। किन्तु यह निद्रा पर आंशिक विजय ही है।

निद्रा का प्रमुख कारण क्या है? मनुष्य के शरीर में शारीरिक एवं मानसिक श्रम करने से एक विषैला तत्व उत्पन्न हो जाता है जो थकान के रूप में शरीर एवं मन को कुछ समय के लिये शिथिल एवं मन्द कर देता है। यह तत्व मद्य (एलकोहल) की भाँति शरीर के लिए विजातीय एवं वर्ज्य होता है और उसकी भाँति ही शरीर में तब तक हलचल उत्पन्न करता रहता है जब तक कि वह धीरे-धीरे निकल नहीं जाता अथवा विलीन नहीं हो जाता है। प्रगाढ़ निद्राके द्वारा इस विषाक्त एवं त्याज्य पदार्थ का शमन श्रेष्ठ प्रकार से होता है। उसकी मादकता के प्रभाव से निद्रा आ जाती है। शारीरिक और मानसिक थकान प्रायः एक दूसरे को उग्र कर देती हैं। एक प्रकार की थकान होने पर दूसरे प्रकार की थकान भी परिलक्षित होने लगती है और कुछ समय के पश्चात् रक्त-प्रवाह के द्वारा इस विषैले पदार्थ के समस्त देह में फैल जाने के कारण मनुष्य को पूर्ण थकान घेर लेती है। जो लोग प्रायः काम को एक बोझ मानकर करते हैं और उसमें रुचि एवं रस का अनुभव नहीं करते हैं, वे शीघ्र थक जाते हैं। थकान के लक्षण मांस-पेशियों, जोड़ों, इन्द्रियों तथा स्नायु संस्थान में प्रकट होकर मनुष्य की शक्ति को क्षीण कर देते हैं। अल्प थकान का उपाय कार्य-परिवर्तन, शुद्ध वायु-सेवन तथा अल्प-विश्राम हो सकते हैं, किन्तु अत्यधिक थकान का उपाय केवल निद्रा ही होती है। फ्रांस के डा० एम० जौवट के मतानुसार निद्रा का सम्बन्ध एक यौगिक सिरोटोनिन से है, जिसके मस्तिष्क में बढ़ने से निद्रा, और घटने से अनिद्रा की स्थिति उत्पन्न होती है। सामान्य व्यक्ति के लिये रात्रि में सात-आठ घण्टे सोना और यदि सम्भव हो तो दिन में भोजन के पश्चात् अल्प विश्राम करना परमावश्यक है। निद्रा का विधान प्रकृति की विलक्षण देन है, किन्तु कभी-कभी मानसिक तनाव बढ़ जाने पर मनुष्य निद्रा द्वारा विश्राम भी नहीं ले पाता

है और यह अवस्था परम दुःखमय होती है तथापि अत्यधिक तनाव का श्रेष्ठ तात्कालिक उपाय भी निद्रा (ध्यान का अभ्यास) ही है।

यदि यह सम्भव हो सके कि शारीरिक एवं मानसिक श्रम करने पर भी विचैला एवं त्याज्य पदार्थ नाम-मात्र के लिए ही उत्पन्न हों तथा थकान न्यूनतम हो तो निद्राकी आवश्यकता भी अत्यल्प रह जायगी। यह उपलब्धि होने पर यदि कोई व्यक्ति अपनी प्रबल इच्छा-शक्ति अथवा सङ्कल्प-बल के द्वारा जब चाहे तब तथा जितने भी अल्प समय के लिए चाहे उतने ही समय तक सो सके, वह निद्राजित ही कहलायेगा।

यह जान लेना आवश्यक है कि मस्तिष्क ही शरीर पर शासन करता है और शारीरिक थकान की अपेक्षा मानसिक थकान कहीं अधिक थकाकर होती है। मानसिक थकान का कारण वास्तव में चिन्तन एवं मनन नहीं होता है, बल्कि तनाव, भय, चिन्ता आदि विकार होते हैं। मस्तिष्क भी हृदय की तरह बिना थकान हुए जीवन-भर निरन्तर अनन्त काम करता रहता है और केवल मनोविकार ही उसमें थकान के लक्षण तथा रोग उत्पन्न करते हैं। मनोविकार मानसिक एवं शारीरिक रोगों के रूप में फूट निकलते हैं। रोग अध्येताओं के अनुसार मधुमेह (डाइबेटीज), उदर में व्रण (अल्सर), रक्तचाप, सिर-दर्द (विशेषतः माइग्रेन), सन्धिशोथ (अर्थराइटिस) अनेक त्वचा विकार, अजीर्ण, क्षय, दमा आदि रोग अन्य कारणों के अतिरिक्त भावनात्मक दबाव (इमोशनल-प्रेशर) के कारण भी उत्पन्न होते हैं। मानसिक तनाव मन के प्रच्छन्न विकारों के कारण उत्पन्न होता है तथा अनेक शारीरिक रोगों का कारण बन जाता है। ईर्ष्या, द्वेष, घृणा, क्रोध, उत्तेजना, क्लेश, चिन्ता, भय, आतंक, निराशा, प्रमाद, ग्लानि आदि मनोविकार हैं। समस्त मनोविकारों का कारण केवल मोह है। 'मोह सकल व्याधिन्ह कर मूला।' यदि मनुष्य भोजन से प्राप्त ऊर्जा को इन विकारों के द्वारा प्रनष्ट न करे तो उसे अत्यल्प भोजन ही पर्याप्त हो जाय। मनुष्य अपने मन तथा इन्द्रियों को जिस मात्रा में निर्विकार कर लेगा, तथा मनोनिग्रह, इन्द्रिय निग्रह के द्वारा आत्म विजय प्राप्त कर लेगा। उसी मात्रा में वह निद्रा को भी जीत सकता है। रामायण में वर्णित है कि लक्ष्मण भी अप्रतिम रूप से निद्राजित थे।

महात्मा गांधी भी इच्छानुसार सो सकते थे। वे जब भी और जितने समय के लिए आवश्यक समझते थे, तभी तथा उतने समय के लिए, कुछ सैकिंडों में ही सो जाते थे। प्रसिद्ध अंग्रेजी लेखक सी० ई० एम० जोड ने गांधीजी के सम्बन्ध में लिखा है, "यह कोई आकस्मिक घटना नहीं है कि गांधीजी क्षण-भर में ही सोते हुए समय के लिए इच्छानुसार सो सकते हैं। यह कोई आकस्मिक घटना नहीं है कि वह भोजन बिना परिवर्तन किये हुए ही जानबूझ कर शरीर भार को बढ़ा—अथवा घटा सकते हैं।" इस ख्यात लेख में जोड महाशय ने चिन्ता रहित चिन्तन का मूल रहस्य मोह-त्याग ही बतलाया है।

जोड महाशय प्रश्न करते हैं, मानव जाति की कौन-सी विशेषता उसे पशु जगत से भिन्न करती है? कोई उत्तर देंगे—नेकी, आत्म-बलिदान, नैतिक-साहस। अरस्तू ने उत्तर

दिया था—तर्क। वास्तव में चिन्तन मानव की विशेषता है, मानव का विशेषाधिकार है। चिन्तन का सार है साभिप्राय चिन्तन (अथवा अपेक्षित दिशा में सोद्देश्य चिन्तन) साभिप्राय चिन्तन का सार है तर्क (अथवा तर्क संगत चिन्तन जिसका अर्थ है समुपस्थित समस्या का हल ढूंढने के लिए तर्क द्वारा मानसिक खोज करना और एक निष्कर्ष पर पहुंचना।) तर्क (अथवा तर्क संगत चिन्तन) का सार है एक वस्तु परकता अथवा बाह्य-पदार्थ परकता। तर्क पूर्ण, वस्तु परक चिन्तन का अर्थ है वस्तु स्थिति का निष्पक्ष यथातथ्य अध्ययन (अर्थात् निर्णय लेने में इच्छा, आशा आदि से ऊपर उठकर वस्तु स्थिति का अध्ययन।) वस्तुपरक चिन्तन का अर्थ है तटस्थतः (अथवा उस विषय तथा वस्तुओं के प्रति अपने से पृथकता का भाव जिनका हम अध्ययन कर रहे हैं। किन्तु हमें स्वीकार करना पड़ता है कि केवल वस्तुओं के प्रति तटस्थता होती ही पर्याप्त नहीं है। क्योंकि हम देखते हैं कि बड़े-बड़े चिन्तक एवं दार्शनिक तुच्छ बातों पर ही बौखला उठते हैं तथा भड़क जाते हैं। अतः अन्त में हमें कहना चाहिए कि तटस्थता का सार न केवल बाह्य पदार्थों के प्रति तटस्थता है बल्कि उसी प्रकार से अपने प्रति भी तटस्थता अथवा आत्म-विरक्ति (अर्थात् मोह-त्याग कर अपने व्यक्तिगत प्रलोभनों, आशाओं, इच्छाओं, महत्वाकांक्षाओं आदि के प्रति भी तटस्थता) है। अपने व्यक्तिगत प्रलोभनों, आशाओं, इच्छाओं और महत्वाकांक्षाओं से ऊपर उठने के लिए आत्म विजय पाना परमावश्यक है। इस प्रकार जोड महाशय की व्याख्या के अनुसार, आत्मविरक्त अथवा आत्म-विजय ही मानव की प्रमुख विशिष्टता है। यदि कोई आत्म-विरक्त अथवा आत्मविजयी व्यक्ति अपने जीवन की शक्तियों का उपयोग सत्य पर आधारित सिद्धान्तों के लिए करता है तो वह एक श्रेष्ठ मानव है। ऐसे मानवरत्न को मानव की श्रेष्ठ निधि 'आत्मबल' सुलभ हो जाती है। आत्मबल अथवा नैतिकबल के आधार पर वह अद्भुत चमत्कार कर दिखाता है। ऐसे महामानव अपने शरीर, इन्द्रियग्राम और मन को पूर्ण शासन में रखता है तथा ऐसा आत्मविजयी मानव-पुंगव निद्राजित होता है। अतएव गुडाकेश होना सरल नहीं है। श्रीकृष्ण ने अर्जुन को 'गुडाकेश' उपाधि प्रदान कर विशिष्ट सम्मान दिया। मोह शून्य, निर्लेप व्यक्ति ही शान्ति एवं सुख का अधिकारी होता है।

मोह त्याग की महिमा अद्भुत है। मोह ही भय एवं दुःख का प्रधान कारण है। मोह त्याग से असीम प्रच्छन्न बल आविर्भूत हो जाता है। मोह एक मिथ्या भ्रम है। यह शरीर की ममता से प्रारम्भ होता है। हम कुटुम्ब जाति आदि के प्रति संकीर्ण ममत्व स्थापित करके धीरे-धीरे संकीर्ण होते जाते हैं। दूसरों की मूल्यवान् वस्तुओं के नष्ट होने पर, दूसरों के कुटुम्ब में मृत्यु होने पर हमें दुःख नहीं होता है, किन्तु अपनी साधारण वस्तु के नष्ट होने पर ही अथवा अपने कुटुम्ब में साधारण क्षति होने पर ही हमें दुःख, आघात का अनुभव होता है, क्योंकि उनमें हमारा ममत्व होता है। दुःख का कारण वस्तु-नाश अथवा देह-नाश नहीं है, बल्कि हमारा मोह है। मोह से ही आशंका, चिन्ता

और भय उत्पन्न होते हैं। मोह के कारण ही स्वकीय, परकीय का संकीर्ण भेद तथा घृणा और क्रोध उत्पन्न होते हैं जिनसे मन असन्तुलित हो जाता है। मोह से कर्म की प्रेरणा लेना तथा मोह के कारण कर्म करना स्वस्थ नहीं हो सकता है। कर्त्तव्य-भावना से ही कर्म की प्रेरणा लेना उचित होता है। अहंकार-शून्य प्रभु-भक्त जो जीव मात्र में ईश्वर का दर्शन करता है तथा अन्तर्प्रेरणा के आधार पर कर्म करता है, पाप-पुण्य, दुःख-सुख आदि द्वन्द्वों से मुक्त रहता है। मोह के स्थान पर स्वस्थ-प्रेम रखने से अभय भाव का उदय होता है। प्रेम एक गुण है और मोह दोष है। प्रेम एक प्रकाश है, मोह अन्धकार है। प्रेम का अर्थ है उदारता, सेवा और त्याग। मोह का अर्थ है संकीर्णता, स्वार्थ और भोगलिप्सा, प्रेम सात्विक है और मोह तामसिक। मनुष्य में अमरत्व तथा मृत्यु दोनों ही स्थित हैं, किन्तु मोह से मृत्यु और सत्य से अमरता प्राप्त होती है।

अमृतं चैव मृत्युश्च द्वयं देहे प्रतिष्ठितम्।
मृत्युमापद्यते मोहात् सत्येनापद्यतेऽमृतम्॥
—महाभारत

सच तो यह है कि 'अहंभाव' के विकृत होने पर तथा उस विकृति को पुष्ट करते रहने पर मोह बढ़ता चला जाता है। 'अहंभाव' से ही ममत्व उत्पन्न होता है। धन-सम्पत्ति, सत्ता, यश आदि को अपना मानकर तथा उसके लिए सिद्धान्त एवं सत्य का मार्ग छोड़कर भी लड़ते रहने से हम अपने 'अहं' के मिथ्या रूप को पुष्ट करते रहते हैं। इसीलिए लोग छोटी-छोटी बातों को प्रतिष्ठा का प्रश्न बना लेते हैं, न कि सिद्धान्त का। 'अहं' का मोह से गहरा सम्बन्ध है। यों कहिए कि मोह का कारण 'अहं' ही है। किसी के अपशब्द सुनकर हमारे विकृत 'अहं' को ही चोट पहुंचती है और हम क्रुद्ध हो जाते हैं। घृणा एवं क्रोध का उदय अहंभाव की टकराहट से ही होता है। 'अहं' को उदात्त करने से मोह घटता है तथा जीवन स्वच्छ एवं स्वस्थ हो जाता है। अपने अहंभाव को विनश्वर धन, सम्पत्ति, सत्ता, पद, यश के आधार पर विकसित न करके सत्य और प्रेम के आधार पर पुष्पित एवं पल्लवित करना चाहिए तभी हम व्यक्तिगत महत्वाकांक्षा, इच्छा, आशा और निराशा से ऊपर उठकर मानवता के उदार सिद्धान्तों के लिए जीना और मरना सीख सकते हैं तथा तभी हमें जीवन का सच्चा सुख प्राप्त हो सकता है।

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः॥
—गीता ५/२३

जो मनुष्य शरीर-नाश से पूर्व जीवन-काल में ही काम तथा क्रोध से उत्पन्न वेग को सहन करने में समर्थ है अर्थात् जिसने काम और क्रोध को जीत लिया है, वह इस संसार में योगी है तथा वही सुखी है। काम और क्रोध का मूल अहंकार है, काम (इच्छा) और क्रोध पर विजय पाना सुख प्राप्ति का रहस्य है।

जीवनमुक्त उसको कहते हैं जो जीवन काल में ही मुक्त हो जाता है, मोटर कार को न्यूटरल-गीयर में डालने पर मशीन तो चलती है किन्तु आगे-पीछे नहीं हटती है। जीवन-मुक्त सब कुछ करते हुए भी कुछ नहीं करता है, अलिप्त रहता है। यही समरसता, समता अथवा समभाव है।

हम जीवन-पथ के पथिक हैं। कोई व्यक्ति न धन सम्पत्ति लेकर जन्म लेता है, न उनको साथ लेकर कोई मरता है। 'कहै कबीर अंत की बारी, हाथ झारि के चले जुआरी'। स्वामित्व की भावना से मोह उत्पन्न होता है किन्तु स्वामित्व तो मिथ्या एक भ्रम है। यदि शरीर भी मेरी अपनी निधि नहीं है और छूट जाता है तो अन्य वस्तुओं एवं व्यक्तियों में ममत्व तो नितान्त निराधार है। मैं तो आत्मा ही हूं किन्तु शरीर के नाते लोक-व्यव-हार करना जीवन यात्रा की सम्पन्नता के लिए आवश्यक होता है। भगवान की प्रार्थना करने से तथा आदर्शों को प्रेरणास्रोत मानने से मोह शीघ्र छूटता है। परिवार आदि के प्रति अपना कर्त्तव्य-पालन अवश्य करना चाहिए, किन्तु मोह त्याग कर ही। मोह त्याग का अर्थ यह नहीं है कि हमें व्यक्ति और वस्तु प्रिय ही न लगे। अप्रियता होना भी अपने आप में एक दोष है। प्रियता मोह से भिन्न है। प्रियता होते हुए भी, रुचि होते हुए भी हम मोह से ऊपर उठ सकते हैं।

हम कर्म के समय पुरुषार्थ करें और फल प्राप्ति के समय सन्तोष धारण करें। पुरुषार्थ और सन्तोष का समन्वय होना श्रेयस्कर है। मिथ्या दम्भ के आधार पर कृत्रिमता अपना कर झूठे स्तर पर जीवनयापन करना क्लेश-कारक ही सिद्ध होता है। उदारभाव से मानवमात्र को अपनाने तथा परमात्मा की कृपा पर दृढ़ विश्वास करने से असीम शान्ति और सम्बल प्राप्त होते हैं। नाव में बैठने पर सिर के ऊपर से गठरी उतार कर रख देनी चाहिए। प्रभु-कृपा रूपी नौका में बैठने पर चिन्ता रूपी गठरी उतार कर रख देनी चाहिए। हमें वस्तुओं या व्यक्तियों का त्याग नहीं करना है। उनके प्रति मोह का नाता छोड़ना है। प्रेम एक स्वस्थ-भाव है किन्तु मोह अस्वस्थ भावुकता है और त्याज्य है।

हमारा यह निरन्तर प्रयत्न होना चाहिए कि जिस प्रकार चलते हुये रहट के सभी डोल क्रम से नीचे उतरकर जलपूरित होते हैं, हमारे जीवन का प्रत्येक पल भी गहन आत्म-स्तर पर आनन्दपूरित होता रहे और हम अन्तस्तल में शान्त एवं आनन्दित होते हुए बहिर्जगत में क्रियाकलाप करना सीखें। जीवन तो भीतर है। हमें मोह रहित होकर अनासक्त भाव से लोक व्यवहार एवं कार्य-कलाप इस प्रकार करना चाहिए कि मन पर उसका न्यूनतम-प्रभाव पड़े। भीतर का जीवन प्रमुख है तथा बाह्य क्रियाकलाप गौण है। मन के स्वच्छ होने पर बाह्य क्रियाकलाप भी अच्छा हो जाता है।

जयेत् आदौ स्वकं मनः (मुण्डकोपनिषद्)।

सबसे प्रथम अपने मनको जीतना चाहिए मन को जीतने पर ही इन्द्रियों को जीता जा सकता है। मन को समझाकर धीरे-धीरे जीतने के बजाय बरबस इन्द्रिय निग्रह करना हानिकारक होता है। इन्द्रियों में रसना का विशेष महत्व है। 'जिह्वापती बुद्धि विनाशी' मनुष्य का उत्थान और पतन जिह्वा (स्वाद और वाणी) के अधीन है। सुलेमान स्वाद को जीतकर ज्ञानी बना था। महात्मा गांधी ने स्वादजय को एक व्रत माना था। स्वादजयी ही कामजयी हो सकता है। स्वाद-रत तथा कामलीलारत व्यक्ति जीवन में कोई उपलब्धि नहीं कर सकता है। स्वाद एवं काम की भी एक सीमा होनी चाहिए। मन

पर निग्रह करने के लिए एवं मन को मोह-विमुक्त करने के लिए अवचेतन मन की सहायता लेना आवश्यक है। अवचेतन मन कभी नहीं सोता। हमारा चेतन मन जिन विचारों को अपनाकर प्रतिपादित करता है, वे गहरे अवचेतन मनमें उतर कर हमारे अंग बन जाते हैं और प्रबल होकर भविष्य में हमें प्रभावित करने लगते हैं। पहले चेतन मन में स्वास्थ्य, आत्म-विश्वास, उदारता, क्षमा, प्रेम, प्रसन्नता आदि के भावों की स्थापना करनी चाहिए जिससे कि धीरे-धीरे अवचेतन मन उन्हें स्वीकार कर ले। मन को स्वच्छ एवं शक्तिशाली बनाने के लिए भूल जाना और क्षमा करना अमोघ अस्त्र है। पुराने अपमान और वैमनस्य का बोझ मन को कमजोर और दुःखी कर देता है। विगत जीवन के अपमानों और दुःखों की स्मृति जीवनको बोझिल बना देती है तथा इससे प्रगति अवरुद्ध हो जाती है। जीवन की रक्षा के लिए, प्रगति के लिए मानसिक पवित्रता नितान्त आवश्यक है। विगत अपमानों और दुःखों का निरन्तर स्मरण करने से हम न तो जी सकते हैं और न ही दायित्वों का निर्वाह कर सकते हैं, हँस-कर उन्हें भूल जाएं और जीवन के साथ समझौता कर लें तथा क्षमा से मन को निर्मल कर लें। ज्यों ही यह प्रतीत हो कि पानी पैर उखाड़ रहे हैं और प्रवाह बहाकर ले जा सकता है विवेकशील व्यक्ति पीछे हट जाता है। ज्योंही यह प्रतीत हो कि आवेश नदी हमें प्रवाहित कर रही है, हमारा तुरन्त पीछे हट जाना ही संयम कहलाता है। हमें सहज क्षमा का स्वभाव बना लेना चाहिए। कृत्रिम क्षमा निष्प्रभावी होती है। सच्ची क्षमा हृदय को निर्मल एवं सशक्त बना देती है तथा व्यक्तित्व को चमका देती है। स्मृति की पुरानी कटुताओं को चेतन मानस पटल पर लाकर क्षमाभाव द्वारा शमित कर देना चाहिए। क्षमा उत्तम प्रतिशोध है।

न परः पापमादत्ते परेषां पापकर्मणाम् ।
समयो रक्षितव्यस्तु संतश्चारित्र-भूषणाः ॥
(वाल्मीकि-रामायण)

श्रेष्ठजन बुराई के बदले में बुराई नहीं करते हैं। सदाचार की रक्षा करनी चाहिए। सन्तों का आभूषण उनका सदाचार होता है। प्रसुप्त शक्तियों को जागृत करने के लिए और जीवन में स्वस्थता प्रसन्नता की ओर बढ़ने के लिए विध्वंसात्मक एवं निषेधात्मक विचारों को छोड़कर रचनात्मक विचारों पर आस्था सहित मनन करना चाहिए। मन को स्वच्छ पवित्र बनाने से वह स्वस्थ एवं शक्तिशाली होता है। हमें कल्पनाएं भी अच्छी दिशा में ही करना चाहिए। आस्तिकता से साहस एवं प्रसन्नता का उदय होता है। हमारे चेतन मन में विविध प्रकार के भले तथा बुरे विचार आते रहते हैं। हम अपनी छांट के द्वारा उनमें से अच्छे विचारों को अपनाते रहने का प्रयत्न करते रहें। बुरे विचारों का भी बरबस दमन न करें बल्कि धीरे-धीरे भले विचारों की सहायता से उनका शमन करते रहें। मन के साथ मैत्रीभाव रखने से ही उसका निग्रह संभव है।

वर्तमान काल के विचार एवं संस्कार ही भविष्य का निर्माण करते हैं। यदि भविष्य को सुखमय बनाना है, यदि वृद्धावस्था में शांति से जीवनयापन करना है तो वर्तमान के विचार और कर्म को अच्छा बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। पुस्तकों से भी अधिक बढ़कर संगति का प्रभाव पड़ता है। घर में अच्छे

व्यक्तियों के चित्त भी शान्ति प्रदान करते हैं। धनात्मक (पाजिटिव) अच्छे विचारों को प्रोत्साहन देना चाहिए। कुछ भी अच्छे-बुरे विचार नष्ट नहीं होते। हमारे प्रत्येक विचार शब्द और कर्म बीज हैं, जिनका भविष्य पर प्रभाव पड़ता है। यदि कुत्सित विचार बार-बार आयें तो हम उनके साथ सहयोग न करें, स्वागत न होने पर धीरे-धीरे वे अवांछित अतिथियों की भाँति आना बन्द कर देंगे। उनसे घबराने या टकराने की आवश्यकता नहीं है। प्रभुभक्त तो कुविचारों को भी प्रभु को समर्पित कर देता है। 'भले, बुरे हम तेरे हैं।' ईश्वर की भावमय प्रार्थना न केवल प्रारब्ध को बदल देती है प्रत्युत् मन को भी निर्विकार कर देती है।

संयम के अभ्यास में हमें कभी किसी से कुछ न माँगने का व्रत लेना चाहिए। हम कर्त्तव्य-पालन द्वारा पदोच्चता के अधिकारी तो बनें और स्वयं उचित प्रयत्न भी करें, किन्तु याचक कदापि न बनें। मानव दीन बनकर मानवता का घोर अपमान करता है तथा आत्म-पतन कर लेता है। याचक वृत्ति आने पर मनुष्य में निष्क्रियता एवं निकृष्टता आ जाती है तथा स्वाभिमान छूटने पर मनुष्य घृणास्पद हो जाता है। सहायता माँगना और सहायता देना तो मानवीय है, किन्तु दीन होकर याचना करना अधमता है।

सहज मिले सो दूध सम,
माँगा मिले सो पानी।
कहे कबीर वह रक्त सम,
जामें ऐंचातानी।

याचक में मरण-काल के चिह्न प्रकट हो जाते हैं—कम्पन, मलिन मुख, दीन वचन, अस्पष्ट स्वर।

वेपथुर्मलिनं वक्त्रं दीना वाग्गद्गदः स्वरः।
मरणे चिह्नानि तानि चिह्नानि याचके॥

अभीप्सित पद अथवा वस्तु न मिलने पर भी न दुःख मानें और न शिकायत करते घूमें। प्रत्येक परिस्थिति में प्रसन्न रहना श्रेयस्कर है।

परनिन्दा से बचें। समाज के दोषों का ढोल बजाकर तथा व्यक्तियों पर कीचड़ उछालकर हम समाज में गंदगी ही फैलाते हैं और किसी का सुधार नहीं कर सकते हैं। यदि समाजमें सुधार करना चाहते हैं तो आत्म सुधार से प्रारम्भ करें। आत्म-सुधार करना मानो वृक्ष की जड़ को सींचना है और समाज सुधार में लगना मानो शाखाओं को सींचना है। नीतिज्ञ, नियतिज्ञ, वेदज्ञ, शास्त्रज्ञ और बहुज्ञ होना सुलभ है किन्तु अपने अज्ञान को जानने वाले, स्वदोष दर्शन करने वाले विरले ही होते हैं। अपनी सच्चरित्रता का उदाहरण प्रस्तुत करना ही जन-सुधार का श्रेष्ठ उपाय है। छिद्रान्वेषण से आप अपने व्यक्तित्व के खोखलेपन का ढिंढोरा स्वयं पीट रहे हैं तथा समाज में कटुता और अपने मन में विष के बीज बो रहे हैं। दोषदृष्टि अपनाने से समाज में व्यर्थ संघर्ष और अपने मन में कटुता एवं अशांति उत्पन्न होगी। स्वयं अपने लिए अथवा किसी अन्य के लिए क्रोध अथवा भय दिखाकर दूसरों को पीड़ा पहुँचाने वाला असत्य वचन, हमें न स्वयं न बोलना चाहिए, न दूसरों से बुलवाना चाहिए। 'परपीड़ा सम नहीं अधमाई।' किसी की निन्दा करना अथवा परनिंदा कोप्रोत्साहन देना त्याज्य है।

कुछ लोग यश प्राप्ति को जीवन का लक्ष्य मानकर भटक जाते हैं। यश की इच्छा से प्रेरित मनुष्यके कर्म सात्त्विक नहीं रह सकते। वह यश के कुचक्र में फँसकर यश के अवसर ही ढूँढ़ता रहता है। जीवन का लक्ष्य सुख प्राप्ति भी नहीं है। जीवन का लक्ष्य है पूर्णता का प्रयत्न, आदर्शों के अनुरूप विकास करना सुख परछाईं अथवा वफादार कुत्ते की तरह पीछे-पीछे आता है। सुख को लक्ष्य मानकर सुख के पीछे चलने से सुख हमसे दूर भागता है, परछाईं की भाँति पकड़ में नहीं आता है। स्वधर्म-पालन से सुख स्वयं पीछे भागता हुआ आता है। सुख की इच्छा त्यागने से सुख मिलता है।

अमेरिका आदि कुछ देशों में कई संस्थाओं द्वारा मानसिक नियन्त्रण की दीक्षा दी जा रही है। प्रभु का छोटा सा प्राणी भी मानवता की असीम सेवा कर सकता है। समाज की वस्तु-स्थिति से उत्तेजित हो जाने के बजाय मानव समाज का अत्यधिक सुधार कर सकता है, किन्तु वास्तव में आत्म-सुधार ही समाज-सुधार की आधार-शिला है। धारणा बना लो—(१) मेरी बढ़ती हुई मानसिक शक्तियाँ समाज की अधिक अच्छी सेवा करने के लिए ही हैं। (२) प्रतिदिन मैं प्रत्येक प्रकार से अधिक अच्छा ही अच्छा होता जा रहा हूँ, कल की अपेक्षा आज अधिक अच्छा हूँ। (३) मेरे रचनात्मक, धनात्मक (पाजिटिव) एवं स्वस्थ विचार मुझे हर तरह से लाभ दे रहे हैं। किसी प्राणी के लिए मुझे दुर्भावना नहीं रखनी। (४) अपनी इन्द्रियों, विचारों एवं शक्तियों पर मेरा पूरा नियन्त्रण है। मस्तिष्क एक प्रयोगशाला है। मेरा अपने मस्तिष्क के प्रत्येक स्तर पर पूर्ण नियंत्रण है। (५) मुझे दूसरे लोगों के स्वास्थ्य एवं सुख के लिए प्रार्थना करनी चाहिए, यत्न भी करना चाहिए।

पश्चिमी जगत् में चिकित्सकों ने आध्यात्मिक शक्ति से रोगहरण (स्प्रिचुअलहीलिंग) की महत्ता को स्वीकार किया है। अस्पतालों में भी रोगी चिकित्सा के साथ इस दिव्य चिकित्सा का भी सहारा ले रहे हैं। आध्यात्मिक अथवा दिव्य शक्तियों से युक्त कोई मनुष्य माध्यम बनकर अपनी अतीन्द्रिय (साइकिक) शक्तिसे रोग निवारण कर सकता है। ऐसा आध्यात्मिक व्यक्ति प्रभु प्रार्थना का आश्रय लेता है, क्योंकि ईश्वरीय शक्ति ही कल्पनातीत कार्य कर सकती है। इंग्लैंड के प्रसिद्ध आध्यात्मिक-चिकित्सक हैर एडवर्डस की पुस्तक 'दी एविडेन्स फार स्प्रिट हीलिंग' में सहस्रों ऐसे रोगों के निवारण के प्रमाण हैं, जिन्हें चिकित्सकों ने घातक अथवा असाध्य घोषित किया था। अनेक रोगियों के रोग दूर से ही बिना छुए ही दूर किये गये। जे० बनार्ड हटन ने भी अपनी पुस्तक 'हीलिंग हैण्ड्स' में सहस्रों ऐसे रोगों के निवारण की विशद चर्चा की है। जहाँ बौद्धिक शक्तियाँ और वैज्ञानिक सहायता निष्फल हो जाती हैं वहीं पर आध्यात्मिक शक्तियाँ सफल हो जाती हैं। आत्मा सचमुच ही शरीर और बुद्धि से परे तत्त्व है जो दिव्य है। आत्मा का भोजन प्रार्थना है। सभी आत्मिक चिकित्सकों का मत अभिमत है कि प्रभु के भरोसे पर चिन्ता एवं भयका त्याग करना आवश्यक है। ईश्वर भक्त संतों की चमत्कारिक ढंग से रोग-निवारण करने की घटनाएँ होती ही

रहती है। सन्त सब देशों में, सब जाति और सभी धर्मों में होते हैं तथा सन्तभाव का विद्वता से कोई सम्बन्ध नहीं होता। प्रायः सन्त मन्त्र (नामजप) का सहारा लेते हैं। मन्त्र-शक्ति के साथ खेल नहीं होना चाहिए। मन्त्र-शक्ति का उपयोग लघु स्वार्थों की पूर्ति अथवा निकृष्ट इच्छाओं की तृप्ति अथवा धनादि भौतिक वस्तुओं के उपचय तथा लोक प्रदर्शन द्वारा अहङ्कार तुष्टि के लिए अथवा व्यर्थ ही नहीं करना चाहिए। यशादि की इच्छा छोड़कर केवल परोपकार के लिए अथवा अध्यात्मिक-प्रगति के लिए ही करना चाहिए। मन्त्र-शक्ति गुरु अथवा सिद्धपुरुषों के प्रति श्रद्धा तथा ईश्वर-शक्ति के विश्वास पर ही आधृत है।

मन की शक्तियों का स्त्रोत मनुष्य की आत्मा है जो सर्व-व्यापक, सर्वज्ञ, सर्वसमर्थ एवं सच्चिदानन्द स्वरूप परमात्मा का अंश है। मन की शक्तियाँ अपार, अनन्त एवं विचित्र हैं। मन की बेतार (वायरलैस) शक्ति विविध तरंगदैर्घ्य (वेवलैंग्थ) पर समाचार प्रसारित करती तथा ग्रहण करती है। मन की बेतार शक्ति दूरस्थ व्यक्तियों एवं वस्तुओं का दर्शन कर लेती है तथा रूप को भी प्रसारित कर सकती है। मन के तारों के छोर (टरमिनल्स) जुड़ते ही तुरन्त समाचार पहुंच जाते हैं। ये अद्भुत बेतार के तार हैं। मन की शक्तियाँ दिक्काल (स्पेस, टाइम) पर विजय पा लेती है। मानसिक शक्ति के सहारे असाध्य रोग ठीक किए जा सकते हैं। और अकल्पनीय कार्य अद्भुत ढंग से सम्पादित किए जा सकते हैं। मानव ज्ञान-विज्ञान के माध्यम से बौद्धिक शक्तियों (विचार, तर्क इत्यादि) से चमत्कृत है किन्तु अभी मन की पच्छन्न गहराइयों से अनभिज्ञ है। मनुष्य प्रार्थना, ध्यान आदि के द्वारा प्रभु से सच्चा नाता जोड़कर तथा पवित्र विचार एवं कर्म (प्रेम, क्षमा, सेवा पर आधारित) करते हुए मानसिक शक्तियों को जाग्रत एवं विकसित कर सकता है। मन में प्रभु की झलक दीख सकती है। मनुष्य की आत्मा में विश्व की समस्त घटनाएँ ऐसे प्रतिबिम्बित होती हैं जैसे एक जल बिन्दु में समस्त आकाश के नक्षत्रगण। योगी के लिए विश्व करबदर-सदृश हो जाता है।

मन की उन्नति ही मनुष्य की सच्ची उन्नति है। कर्म भी मन की उन्नति का एक साधन है। मन की उन्नति के लिए, मस्तिष्क के सम्वर्धन के लिए वैज्ञानिक नयी औषधियों (स्मृति बढ़ाने के लिए साइलर्ट इत्यादि) की खोज कर रहे हैं किन्तु वास्तव में मौन, ध्यान, आध्यात्मिक साधना से बढ़कर अन्य कुछ नहीं है। वैज्ञानिकों के अनुसार मानव शरीर की कोशिकाओं के भीतर दो मूलभूत रासायनिक जैविक तत्व हैं—डियोक्सीराइबो न्यूक्लीन एसिड (डी० एन० ए०) तथा रिबोन्यूक्लीन एसिड (आर० एन० ए०)। मनुष्य के मस्तिष्क की कोशिकाओं में उसकी चिन्तन शक्ति, स्मरण शक्ति और सीखने की शक्ति को प्रभावित करने वाली अत्यन्त सूक्ष्म आर० एन० ए० रासायनिक प्रक्रिया होती है। आर० एन० ए० के इंजैक्शन से परम दुर्बल एवं विकृत मस्तिष्क भी स्वस्थ हो जाते हैं। जिस प्रकार नवीनतम औषधियों (साइलर्ट आदि) के प्रयोग से आर० एन० ए० एंजाइम तेजी से बनकर स्मरण शक्ति को कई गुना

बढ़ा देते हैं, उसी प्रकार से मौन, ध्यान एवं आध्यात्मिक साधना भी मस्तिष्क को सबल बनाते हैं। ध्यान से शरीर के कण-कण में विद्युत आवेश को जगाकर रोगाणुओं को निकाला जा सकता है। राग-द्वेष मुक्त, अहंकार-मुक्त व्यक्ति ही आध्यात्मिक-शक्ति का केन्द्र बनकर विद्युत-चुम्बकीय एवं आध्यात्मिक बल द्वारा अनेक चमत्कार कर सकता है।

ध्यान की सरल पद्धति बनाकर हम मन को बलवान एवं शान्त बना सकते हैं। केवल परमात्मा की कृपा से ही हम दीन दुखियों की सहायता कर सकते हैं। एक मनुष्य संसार के किसी भी सुदूर कोने में स्थित दूसरे मनुष्य की सेवा सद्भाव और प्रार्थना द्वारा कर सकता है। अपने को भाग्य अथवा कर्मफल के वाश में बंधा हुआ समझकर विवश मानने वाला व्यक्ति कभी सुखी नहीं हो सकता है। जैसी भी परिस्थितियाँ हों, उनमें सुख-पूर्वक रहना सीखना चाहिए। सुख देने से सुख मिलता है। हमें अपने जीवन के दृष्टिकोण को बदलना होगा।

मौन तथा ध्यान विचारों को स्वच्छ, स्पष्ट एवं सबल बनाने में सहायक होते हैं। हम दिनभर दूसरों के साथ रह कर दूसरों की बातें सुनते हैं तथा दूसरों के विषय में बातचीत करते हैं। किन्तु कभी-कभी एकान्त में बैठकर हमें कुछ समय अपने साथ बिताना चाहिये तथा अपनी भी बातें सुननी चाहिए और अपने को सुधारने का संकल्प एवं प्रयत्न करना चाहिए। हमने जो अपराध किये हों तथा जो कुछ भी कटु अनुभव हुये हों, हानि तथा अपमान हुये हों उन्हें बरबस भूलने का अथवा उनकी स्मृति को दबा देने का प्रयत्न कुण्ठा उत्पन्न कर सकता है। जो कुछ भी हुआ उसका स्मरण कर उसके साथ समझौता, समायोजन, उसका मानसिक समाधान करना (मन को क्षमा, दान आदि से संतुष्ट करना) कटु स्मृति के शमन का श्रेष्ठ उपाय है।

समस्त प्राणियों के लिये जीवमात्र के लिये, मंगल कामना करने से, सबके लिये सद्भावना करने से, मन पवित्र एवं बलवान होता है, संकीर्णता से ऊपर उठता है, व्यापक होता है तथा विश्व के साथ एकाकार हो जाता है।

सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयः।
सर्वे भद्राणि पश्यन्तु मा कश्चिद् दुःखभाग्भवेत्॥

सभी जीव सुखी हों, सभी निरोग हों, सभी का कल्याण हो और कोई दुखी न रहे- यह लोकमंगलकारी भावना मनुष्य को देवत्व की ओर ले जाती है।

मनुष्य प्रकृति से अधम, मध्यम एवं उत्तम होते हैं। अधम व्यक्ति तो सबको कष्ट ही देते हैं, स्वार्थरत रहते हैं। वे स्वयं सम्पन्न कर रहते हैं तथा दूसरों को सुख-पूर्वक जीने नहीं देते हैं। उनके मानव-देह में मानो विष भरा रहता है। 'विषरस भरा कनकघट जैसे।' उनका स्वभाव बर्रं की भाँति होता है। 'पर अकाज लगि तनु परिहरहीं, जिमहिम उपल कृषी दलि गरहीं।' यह निकृष्ट वृत्ति है। मध्यम व्यक्ति कठोर होकर भी सत्कार्य करते हैं। 'हृदय प्रीति मुख बचन कठोरा।' उनका स्वभाव मधुमक्खी की भाँति होता है जो डंक तो मारती है किन्तु मधु संचय भी करती है। उत्तम जन (सन्त) समाज के लिये सब प्रकार उपयोगी होते हैं। उनका स्वरूप और स्वभाव गौ की भाँति होता है। जो जीवन में तथा

मरने पर भी दधीचि की भाँति परोपकारी रहती है। सन्तजन का जीवन समाज के लिए होता है तथा उनमें कहीं स्वार्थ नहीं होता है। "सन्त सरल चित्त जगत हित। साधु-चरित शुभ-चरित कपासू, निरस, बिसद, गुनमय, फल जासू। जो सहि दुःख परछिद्र दुरावा, बंदनीय जेहि जग जस पावा।" एक ओर ओला है जो खेती को गलाने के लिये अपने शरीर को गला देता है, दूसरी ओर कपास है जो स्वयं कष्ट उठाकर दूसरों का तन-तन ढकती है। आत्म-संयमी ही परोपकाररत हो सकता है। सन्त पारसमणि से बढ़कर होता है। 'पारस में अरु सन्त में, बहुत अन्तरो जान। वह लोहा कञ्चन करै, यह करै आप समान॥'

अतीत के बन्धनों से मुक्त होने का उपाय उनका शमन है। अतीत पैर में बँधी चक्की की तरह बाधक होता है, अतएव उसके साथ मैत्री करना परमावश्यक है। अतीत के साथ सामंजस्य स्थापित करके ही हम उसके बुरे प्रभाव से मुक्त हो सकते हैं। अतीत से छूटने के लिए रोने अथवा दूसरों के समक्ष अपराध स्वीकृति कर लेने की अपेक्षा भी कहीं अच्छा ढङ्ग पुरानी घटनाओं को नये, स्वस्थ दृष्टि-कोणसे देखकर उनको समझ लेना तथा उनके साथ सामंजस्य स्थापित कर लेना है। 'जो व्यक्ति अपने को क्षमा नहीं कर सकता है वह दूसरों को भी क्षमा नहीं कर सकता है। क्षमा दैवी गुण होता है। क्षमा ईश्वर का स्वरूप है, ईश्वर की ही विभूति है (गीता १०/३४)। जो क्षमा नहीं करता, यदि क्षमा करना संभव है, वह निर्दय है, अक्षम है। क्षमा उत्तम पुरुष का गुण है। क्षमा मनुष्य को महान् एवं अन्य बना देती है।

भूल करना मानवीय है। संसार में किस मनुष्य ने जाने-अनजाने भूल नहीं की है? क्या भूल करने वाले व्यक्ति के लिए जीवन में कोई रास्ता ही नहीं रहा? यदि मनुष्य अपनी भूलों का स्मरण ही करता रहे तो वह उनके बोझ से दबकर मर जायगा। भूलों की निरन्तर स्मृति उसका दम घोंट देगी। अपराध भावना (गिल्टसेन्स) बनी रहने से मनुष्य अपने गुणों को भी दोष समझने लगता है, अपने को दीन-हीन माननेसे निकम्मा हो जाता है, उसका आत्म विश्वास लुप्त हो जाता है। जीवन-शक्ति का शोषण होने लगता है वह दूसरों पर भी सन्देह करने लग जाता है तथा ऋणात्मक (नेगेटिव) विचार उसे भ्रमित एवं भ्रष्ट कर सकते हैं। अतः अपराध-भावना से मुक्ति परम आवश्यक है। पश्चात्ताप करने से मन में भूल के संस्कार मिट जाते हैं, दग्ध हो जाते हैं। विवेकपूर्ण एवं सरल पश्चात्ताप मन को स्वच्छ कर देता है। सात्विक पश्चात्ताप एक स्वयं प्रदत्त-दण्ड है, जो बाह्य-दण्ड की अपेक्षा अधिक प्रभावी होता है। बाह्य-दण्ड मनुष्य की अपराध-वृत्ति को द्विगुणित कर सकता है। (यदि बाह्य-दण्ड देना आवश्यक हो तो किसी नैतिक प्रक्रिया से उसे मानसिक पश्चात्ताप कराना चाहिये, जिससे कि दण्ड प्रायश्चित बन जाय), प्रायश्चित के अतिरिक्त भूल से मुक्त होने के लिये प्रार्थना अमोघ उपाय है। जब मनुष्य अपने को क्षमा नहीं कर सकता है तथा समाज भी उसे क्षमा नहीं करता है—प्रभु उसे भी क्षमा कर देते हैं। प्रभु का द्वार सबके लिए सर्वदा खुला रहता है। प्रभु को हृदय से पुकारने से उसकी कृपा मिल जाती है। आत्मा अपनी सब मायों

को छोड़कर एक भटकी गाय को ढूंढ़ लाने के लिये आतुर रहता है। प्रार्थना के द्वारा मन नितान्त निर्मल हो जाता है। प्रार्थना मनुष्य को प्रभु के समीप ला देती है और प्रभु की दिव्यता मनुष्य का रूपान्तर कर देती है, उसे उदात्त एवं दिव्य बना देती है। यदि ईश्वर क्षमाशील न होकर केवल कठोर न्यायकर्त्ता ही हो तो वह एक यन्त्रमात्र है दिव्य नहीं। प्रभु प्रेम और क्षमा के अगाध समुद्र हैं। भक्ति भाव से लिये हुए प्रभु नाम की पाप-हरण करने की जितनी क्षमता है, घोर पापी उतना पाप कर भी नहीं सकता है। 'नाम्नोऽस्ति यावती शक्तिः पापनिर्हरणे हरेः। तावत्कर्तुं न शक्नोति पातकं पातकी जनः (विष्णु-पुराण)। प्रार्थना से मन के विकार धुल जाते हैं और मनुष्य दिव्य हो जाता है। वाल्मीकि डाकू से ऋषि एवं महाकवि बन गये। भावपूर्ण शब्द प्रार्थना बन जाते हैं। ज्ञानाग्नि निश्चित ही पाप-भावना को भस्म कर सकती है तथा भक्ति-बल उसे धोकर मन को पवित्र बना सकता है। जैसे घर के द्वार खोलते ही सूर्य तम को ध्वस्त कर देता है, मन को प्रभु की ओर उन्मुख करते ही प्रभु का प्रकाश मन को पवित्र बना देता है। मनुष्य को निष्कलुष एवं निष्पाप बना देता है। अपि चेत् सुदुराचारो भजते मां अनन्य-भाक्। साधुरेव स मन्तव्यः, सम्यग्व्यवसितो हि सः। क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति। कौन्तेय प्रति जानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति॥ गीता ९/३०-३०॥ अर्थात् पापी भी प्रभु को प्राप्त करके पुण्यात्मा हो जाता है। यह प्रभु की अलौकिक दिव्यता के कारण सम्भव हो जाता है। 'सन्मुख होइ जीव मोहि जबहीं, जन्मकोटि अघ नासहिं तबहीं।' ईश्वर के सम्मुख होने पर कर्मफल दग्ध हो जाता है। जिस प्रकार रोगीजन का रोग औषधि से दूर हो जाता है, उसी प्रकार पापीजन का पाप भी पुण्य-कर्मों से नष्ट हो जाता है। 'भेषजेन यथा व्याधिरपगच्छति रोगिणः। पुण्येनापि तथा मन्ये पापं नश्यति पापिनः॥' (पुरुष-परीक्षा)। शिव-संकल्प एवं धनात्मक विचारों का उदय होने पर अशिव संकल्प एवं ऋणात्मक विचारों का शमन हो जाता है और व्यक्ति का व्यक्तित्व ही बदल जाता है।

जीवन को उत्कृष्ट एवं सुखमय बनाने का दृढ़ संकल्प करना चाहिए तथा इसके लिए पूर्ण प्रयास करना चाहिए। हम दुःखी क्यों रहें? सुखी बनने का निश्चय करके हम अवश्य सुखी बन सकते हैं। जीवन की सार्थकता अपूर्ण से पूर्ण की ओर, नश्वरता से अमरता की ओर, अन्धकार से प्रकाश की ओर अग्रसर होने में तथा आत्मा को निर्बन्ध करने में है। गुडाकेश अर्थात् इन्द्रियजित एवं मोहमुक्त होना इस दिशा में आगे बढ़ने के लिए महत्त्वपूर्ण पग है। मोहमुक्त व्यक्ति जीवन की गहराइयों को देख और समझ सकता है तथा उसके जीवन में सुख का सहज समावेश हो जाता है। ■

साधु ऐसा चाहिए जैसे सूप सुभाय।
सार-सार को गहि रहे थोथा देय उड़ाय॥
—कबीर

पूर्वजों का चरित्र-दर्शन

★ कविरत्न श्री प्रा० हरिशंकर शर्मा

मन में अशुद्धता का न वास होता था,
यह जीव इन्द्रियों का न दास होता था।
भौतिकता से निर्लिप्त पुण्यमय मन थे,
सात्विकता से भरपूर शुद्ध जीवन थे।

मन में न दुष्ट संकल्प कभी आते थे,
आते थे तो पातक समझे जाते थे।
अतएव सभी सद्भावपूर्ण नर-नारी,
थे शुद्ध, सात्विक, तेज, ओज, बलधारी।

निर्मल मन शुद्ध भावना पर झुकता था,
विषमय विषयों से हो सचेत रुकता था।
वह सदा इन्द्रियों पर शासन करता था,
जीवन में भद्र-भावना भरता था।

जो ज्ञान और विज्ञान सभी का ज्ञाता,
जो जीवन-मार्गों का ब्रह्मा-उद्गाता।
जिनसे नित्य हृष्ट-पुष्ट होते जन-जन थे,
शुभ संकल्पों से युक्त सभी के मन थे।

सोते-जागते जो दूर-दूर जाता है,
जो ज्योति ज्योतियों का भी कहलाता है।
जो दिव्य शक्ति-सम्पन्न धर्म-साधन थे,
शुभ संकल्पों से युक्त सभी के मन थे।

मन की पवित्रता कर्म्म विशुद्ध बनाती,
सद्बुद्धि सदा सत्-पथ पर ही ले जाती।
जिनसे बनते उत्कृष्ट-उन्नत जीवन थे,
शुभ संकल्पों से युक्त सभी के मन थे।

सद्ज्ञान, धैर्य, चिन्तन जिसकी गरिमा है,
अमृतमय, तेजोमय, महान् महिमा है।
जिनके द्वारा सञ्चालित कर्म्म-कथन थे,
शुभ संकल्पों से युक्त सभी के मन थे।

इन्द्रिय-अश्वों के सद् संचालनकारी,
सुख-दुख के कारण निश्चयवत् अधिकारी।
जिनसे बनते मानवता-भव्य भवन थे,
शुभ संकल्पों से युक्त सभी के मन थे।

खुद जिओ, और औरों को भी जीने दो,
खुद खाओ-पिओ, और खाने-पीने दो।
था यही एक गुरु-मन्त्र शान्ति-सुखदाता,
जन-जन में था सद्भाव-स्नेह उमगाता।

थे सदाचार-सम्पन्न सभी के जीवन,
नैतिकता से भरपूर मनस्वी थे जन।
छल-छद्म स्वप्न में भी न कभी लाते थे,
कर्त्तव्य-कर्म्म-पथ को वे अपनाते थे।

था पुण्य-प्रेम से प्रेरित परहित करना,
सद्भाव-सुधा मानव-मानस में भरना।
था पाप, द्वेष से औरों को दुख देना,
कर-कर कुकर्म्म निन्दित हो अपयश लेना।

व्यवहार न जो अपने को खुद भाता था,
वह औरों के प्रति भी न किया जाता था।
पर-पीड़ित ही था पाप, पुण्य परहित था,
सब सबका दुःख दलन में विश्व-निरत था।

जिससे जीवन आगे बढ़ता जाता है,
क्षण-क्षण गौरव-गिरि पर चढ़ता जाता है।
जिससे न कभी कोई जन दुख पाता है,
वह पुण्य कर्म्म ही धर्म्म कहा जाता है।

कर पुण्य, पुण्य-परिणाम सभी पाते थे,
बोकर बबूल वे आम नहीं खाते थे।
शुभ-अशुभ कर्म, शुभ-अशुभ फलों का दाता,
यह अटल दार्शनिक तत्व सभी को भाता।

मन-कर्म्म वचन में कभी न दोष समाते,
सर्वदा सभी जन भद्र भाव अपनाते।
थी यही सफलता, सुषमा, शुचि जीवन की,
उज्ज्वल आत्मा और विमलता मन की।

भगवान दीन की क्षुधा-पिपासा में है,
संकट-ग्रस्तों की अविरल आशा में है।
यह जान सभी का ताप-त्रास हरते थे,
दुखियों के लिए सदा जीते मरते थे।

श्री गुरुदेव और उनका शक्ति-संचार

डा० विष्णुदत्त शर्मा (बी. एम. यू.)

भारतवर्ष की इस पुण्यधरा पर ऐसे अनेक सिद्ध सन्तों का अवतरण होता रहा है जिन्होंने अनेक भव-पीड़ित मुमुक्षजनों को इस असार संसार से बाहर निकाल कर उन्हें अपने शक्ति-संचार द्वारा चेतना के राज्य में प्रवेश करने का अधिकार दिया। जड़ता के भाव-लोक से चेतना के अनुपम लोक में प्रवेश पाकर उनका चित्त स्वयं समाहित हो गया और इस प्रकार श्री गुरुदेव के शक्ति संचार को ग्रहण कर वे कृत्य-कृत्य हो गये।

हमारे देश में किसी काल में ऐसी दीक्षा हुआ करती थी जिसमें श्री गुरुदेव योग्य शिष्य की भूतशुद्धि कर, उसके पाप और मल दूर कर, उसमें शक्ति-संचार करके, उसे ज्ञान की ऊंची सीढ़ी पर अवस्थित कर दिया करते थे। श्री गुरुदेव की प्राप्ति सभी को नहीं हुआ करती है, मात्र विरले भाग्यवान् जीवों को वह 'गुरुसत्ता' स्वयं अपनाया करती है। दीक्षा शब्द का अर्थ ही 'ज्ञान का देना और पापों का क्षय करना' है। तंत्रों, योगवाशिष्ठ, देवी भागवत, लिंग और शिव-पुराण आदि में इस तथ्य के अनेक प्रमाण हैं।

विद्युत से भी अधिक बलवती एक शक्ति है जिसे योगशास्त्र में कुण्डलिनी कहते हैं। यह शक्ति खनिज, वनस्पति एवं पशु-पक्षियों में भी सुषुप्त रूप से कार्य करती है। मनुष्य में यह शक्ति थोड़ी ही मात्रा में जाग्रत है, इसी हेतु मनुष्य योनि अन्य योनियों से श्रेष्ठ है। इस शक्ति को पूर्णतया जाग्रत कर लेने पर मनुष्य निज मन व अहंकार का नाश कर, अनेक सिद्धियों व ऐश्वर्यों का स्वामी होकर जीवात्मा व परमात्मा की एकता को प्राप्त कर निहाल हो जाता है। सारे योग का आधार यही कुण्डलिनी है। साधन चतुष्टय युक्त पूर्ण पवित्रता में यह स्वयं जग सकती है। इसी के कारण मन्त्रार्चन, पूजादि सिद्धि और फलप्रद होते हैं। श्री सिद्ध-गुरु के शक्ति संचार द्वारा यह महाकुण्डलिनी शक्ति स्वयं ही जाग्रत होकर शिष्य को उसके स्वरूप में अवस्थित होने का सौभाग्य सुलभ कराती है। अतः परमपिता से बिछुड़े हुए अविद्या के अन्धकार से भटकते हुए जीव को फिर से अपने पिता की गोद में बिठा देने वाले सद्गुरु की महिमा अकथनीय है।

भगवान शिव ने श्री मत्स्येन्द्रनाथ जी को योगदीक्षा प्रदानकर उनमें शक्ति संचार द्वारा उन्हें पूर्णता प्रदान की। परमप्रभु आदिनाथ भगवान शिव की आज्ञा पाकर उन्होंने योग का अनुपम मार्ग संसार को दिखलाया। इतिहास साक्षी है,

इस भारत भूमि में ही नहीं अपितु चीन, तिब्बत तथा अन्य पश्चिम दिशा के, देश के लोगों ने भी योगमार्ग को अपनाकर स्वयं को भौतिक एवं पारलौकिक लाभों से कृतार्थ कर लिया। श्री मत्स्येन्द्रनाथजी की कृपा से गोरक्षनाथ महाराज, भर्तृहरि इत्यादि अनेक सिद्ध महापुरुषों का आविर्भाव हुआ जिनको शक्ति संचार करने की सामर्थ्य गुरु परम्परा से प्राप्त हुई। चैतन्य महाप्रभु में श्री ईश्वरपुरी ने गया में शक्ति-संचार का पात्र बनकर संसार को अपनी अलौकिक प्रतिभा से हतप्रभ कर दिया था। सुषुम्ना—संचारी महापुरुष अपने योग्य शिष्यों में शक्ति संचार कर उन्हें भी शक्ति-संचार करने की योग्यता प्रदान करते हैं। कहा जाता है कि रामकृष्ण परमहंस की समाधिकाल की दृष्टि या स्पर्श से दूसरे शिष्य मे शक्ति संचार होकर उसे समाधि हो जाती थी।

काशी-निवासी एक योगी सन्त के दर्शन का सौभाग्य मुझे यहां कुछ वर्ष पूर्व मिला था। प्रथम भेंट में वार्तालाप के दौरान जब श्री महाप्रभु जी का नाम उन्होंने हमसे सुना, तो वे उनके स्मरण से अत्यधिक भावविभोर हो उठे और उनकी आँखों से अविरल अश्रुधारा बह चली। लगभग एक घण्टे तक वे भाव समाधि में रहे। जब प्रकृतिस्थ हुए तो काफी समय तक मौन रहे। तत्पश्चात् कुछ समय बाद उन्होने स्पष्ट किया कि उन्होंने श्री महाप्रभु जी से ही ऋषिकेश में शक्ति-पात दीक्षा प्राप्त की थी। श्री महाप्रभु जी का स्मरण करते हुए वे कई बार भाव-विभोर हुए, उनकी वाणी रुक सी जाती थी और आँखों से अश्रु लगभग ३–४ घण्टे तक बहते ही रहे। उन्होंने महाप्रभु जी का जिक्र करते हुए बतलाया कि वे शक्ति संचार के स्वामी थे, उनकी दृष्टि, उनके स्पर्श व उनके चिन्तन से शिष्यों में शक्ति संचार हुआ करता था, जिसके फलस्वरूप कुछ लोग समाधिलाभ करते, कुछ एक प्रेम समुद्र में स्वयं को निमग्न पाते तो कुछएकों को हठयोग की कठिन मुद्रायें सहज ही सुलभ हो जाती थीं। श्री महाप्रभु जी की अनेक करुण कृपायें मुझे उस दिन उनसे सुनने को मिली। मुझे स्मरण है मेरा भी मन उस दिन कुछ समय के लिए उनके चरण कमलों में निमग्न हो गया था। उन सन्त के श्रीमुख से भी मैंने यही सुना कि "गुरु परम्परा द्वारा ही यह शक्ति-संचार करने की सामर्थ्य प्राप्त होती है। गुरु-परम्परा द्वारा प्राप्त-शक्ति-संचार से शिष्य को कुछ अनुभव अवश्य होना चाहिये। जब तक शिष्य में गुरु शक्ति संचार न हो तब तक गुरु-शिष्य सम्बन्ध दृढ़ नहीं होता। गुरुदेव के समीप शक्ति संचार के लिए ही जाना पड़ता है, केवल मन्त्र पाने के लिए नहीं।

उपदेशकर्त्ता में स्वयं मन्त्र चैतन्य हो चुकना चाहिए तभी शक्ति संचार किया जा सकता है। मन्त्र चैतन्य और कुण्डलिनी का जागरण दोनों एक ही वस्तु है।" इन संत के कुछ अनुभव, जो उन्हें गुरु-कृपोत्पन्न शक्ति संचार से हुए थे, मुझे सुनने का सौभाग्य मिला था। शक्ति-संचार से हुए अनुभवों का वर्णन हमारे अनेक तंत्र ग्रंथों, पाशुपत योग और कुछ ऊपर लिखे पुराणों में मिलता है। इन संत के सभी अनुभव उपर्युक्त ग्रंथों में वर्णित अनुभवों के अनुरूप ही थे।

शक्ति-संचार की महत्ता के बारे में सद्शास्त्रों से जानकर एक ऐसी निष्ठा मन में बन गई है कि हम सभी लोग अपने करुणार्णव श्री गुरुदेव जी का आश्रय प्राप्त कर धन्य हैं। इस कलिकाल में आसन, प्राणयामादि द्वारा सफलता प्राप्त कर लेना कुछ कठिन-सा है परन्तु शक्ति-संचार द्वारा सभी आवश्यक योगाङ्ग जैसे आसन मुद्रा प्राणायामादि स्वभावतः आ जाते हैं। इस शक्ति-संचार परम्परा को सिद्धयोग कहते हैं। कुलार्णव तन्त्र में इसे वेध दीक्षा कहा है। सिद्ध योग के विशेष उपादान गुरु-भक्ति, श्रद्धा और आलस्य रहित होकर जप करना ही है। सब मन्त्रों और योगक्रियाओं में गुरु भक्ति का बड़ा महात्म्य है। गुरु शक्तिशाली और शिष्य भी श्रद्धालु एवं भक्तिमान होना चाहिये। पूर्ण श्रद्धा और भक्ति हुए बिना गुरु की शक्ति शिष्य में नहीं पहुंच पाती।

मिल सके तो :—

श्री हरिकृष्ण 'प्रेमी'

मिल सके तो अश्रु धारा का किनारा खोजता हूं।
नाव जीवन की बहाऊँ, किस तरह सूखी धरा पर।
मैं किसी के लोचनों में, अश्रु धारा खोजता हूं॥
मिल सके तो अश्रु धारा का किनारा खोजता हूं।
सूर्य से जल जायगा दिल, चन्द्र से उन्मत्त होगा।
इसलिए मन के गगन में, एक तारा खोजता हूं॥
मिल सके तो अश्रु धारा का किनारा खोजता हूं।
पास अपने जग बुलाकर, दूर ही करता रहा है।
जो बुलाकर दे न ठोकर, वह इशारा खोजता हूं॥
मिल सके तो अश्रु धारा का किनारा खोजता हूं।
नील नयनों के गगन में, खो गया पंछी हृदय का।
मैं किसी के लोचनों में, अब सहारा खोजता हूं॥
मिल सके तो अश्रु धारा का सहारा खोजता हूं।

योगदर्शन विभूति पाद के—

कुछ स्मरणीय अंश

१—देशबन्धश्चित्तस्य धारणा ।

अर्थात्—चित्त को किसी एक देश (शरीर के अन्दर के देश-षट्चक्र, इत्यादि व बाहर के देश, स्वशरीर का नासिका अग्रभाग, सूर्य चन्द्र आदि कोई और पदार्थ) में बांधना "धारणा" है।

२—तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् ।

अर्थात्—उपरोक्त में (चित्त की) वृत्ति का एक तरह रहना "ध्यान" है।

३—तदेवार्थमात्र निर्भासं स्वरूप-शून्यमिव समाधिः ।

अर्थात्—जब (उपरोक्त ध्यान में) केवल ध्येय का ही बराबर अर्थ भान होता है और चित्त का स्वरूप शून्य हो जाता है तब वही ध्यान "समाधि" है।

४—त्रयमेकत्र संयमः ।

अर्थात्—तीन (धारणा, ध्यान और समाधि) का एकत्र रहना 'संयम' है।

५—तज्जयात्प्रज्ञाऽऽलोकः ।

अर्थात्—उस उपरोक्त (संयम) पर विजय प्राप्त कर लेने से अलौकिक ज्ञान होता है।

६—तस्य भूमिषु विनियोगः ।

अर्थात्—उस (संयम) का भूमियों में (क्रम से) विनियोग करे।

७—त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः ।

अर्थात्—पहले कहे हुए (पंच यम-नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहार, देखिए पाद २ सूत्र २९) की अपेक्षा से तीनों (धारणा, ध्यान और समाधि) अन्तरंग हैं।

८—तदपि बहिरङ्गं निर्बीजस्य ।

अर्थात्—(उपरोक्त धारणा, ध्यान और समाधि) ये यह भी निर्बीज (असंप्रज्ञात) समाधि के बाहरी साधन हैं।

९—व्युत्थाननिरोधसंस्कारयोरभिभव-प्रादुर्भावौ निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः ।

अर्थात्—व्युत्थान संस्कारों का दबना और निरोध संस्कारों का प्रादुर्भाव—यह निरोधकाल में चित्त का निरोध फल है।

१०—तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात् ।

अर्थात्—संस्कार से उस चित्त की प्रशान्त-वाहिता (निरोध संस्कार का शान्त का भर-पूर बहना) होता है।

११—सर्वार्थतैकाग्रतयोः क्षयोदयौ चित्तस्य समाधि परिणामः ।

अर्थात्—सर्व प्रकार के विषयों की (वृत्ति) का क्षय होकर एकाग्रता (अवस्था) का उदय होना समाधि परिणाम है।

१२—ततः पुनः शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्यैकाग्रता परिणामः ।

अर्थात्—उसके बाद फिर शान्त होने वाली (विक्षिप्त वृत्तियों) का प्रत्यय तुल्य (एक सा सर्वदा) हो जाना चित्त का एकाग्रता परिणाम है।

१३—एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणा-वस्थापरिणामा व्याख्याताः ।

अर्थात्—(उपर्युक्त) इसी से (पांच) भूत और (सब) इन्द्रियों में होने वाले (तीन परि-णाम), (१) धर्म, (२) लक्षण और (३) अवस्था, परिणामों की व्याख्या की है।

१४—शान्तोदिताऽव्यपदेश्यधर्मानुपाती धर्मी ।

अर्थात्—शान्त, (भूत) उदित, (वर्तमान) और अव्यपदेश्य (भविष्य) धर्मों में (द्रव्य शक्तियों में) अनुपाती (सदा विद्यमान रहता है) वह धर्मी है।

[क्रमशः

मनीषियों की दृष्टि में योग-दर्शन

★ श्री दर्शनानन्द

योग क्या ?

योग सूत्रों के रचयिता महामुनि पतञ्जलि का जन्म लगभग दो हजार वर्ष पहले हुआ था। वे समाधि के एक अनुभवी पुरुष थे और मालूम होता है अपने अनुभवों के आधार पर ही उन्होंने इन सूत्रों की रचना की है।

ध्यानजन्य समाधि की शास्त्रीय प्रक्रिया का प्रतिपादन इस योग शास्त्र की विशेषता मानी जा सकती है। लगभग सभी भाष्यकारों का मत है कि इस शास्त्र का मुख्य प्रतिपाद्य विषय भी यही है। परन्तु मुझे ऐसा नहीं लगता। मेरी दृष्टि में इस शास्त्र का मुख्य प्रतिपाद्य विषय योग है और योग प्राप्ति के जो अनेक साधन इसमें बताए गए हैं, उनमें ध्यान-जन्य समाधि की शास्त्रीय प्रक्रिया अन्यत्र नहीं मिलती। वही इसी शास्त्र में है, इसलिए यह इस शास्त्र की विशेषता जरूर है।

यह सर्वमान्य है कि गीता सबकी समझ में आने वाला ग्रन्थ है, लेकिन योग शास्त्र के बारे में यह बात नहीं है। इसलिए योगशास्त्र की व्याख्या, अनुवाद और विवेचन करने वालों पर यह जिम्मेदारी है कि वे इसे सुगम और सुबोध बनाकर प्रस्तुत करें, भाषा ललित हो विवेचन सुबोध हो।

प्राचीन काल से यह धारणा चली आ रही है कि योगशास्त्र या ब्रह्मसूत्र साधकों और मुमुक्षुओं के लिए ही है। मुझे लगता है यह ग्रन्थ उन सबके लिए उपयोगी है जो सन्मार्ग पर चलने के अभिलाषी और प्रयत्नशील हैं। —बालकोबा भावे

योग दर्शन एक बड़ा ही महत्वपूर्ण और साधकों के लिए परम उपयोगी शास्त्र है। इसमें अन्य दर्शनों की भाँति खण्डन मण्डन के लिए युक्तिवाद का अवलम्बन न करके सरलतापूर्वक बहुत ही कम शब्दों में अपने सिद्धान्त का निरूपण किया गया है। इस ग्रंथ पर अब तक संस्कृत, हिन्दी और अन्यान्य भाषाओं में बहुत भाष्य और टीकायें लिखी जा चुकी हैं। भोजवृत्ति और व्यास भाष्य के अनुवाद भी हिन्दी भाषा में हो चुके हैं।

यह लघुकाय दर्शन समाधिपाद, साधनपाद, विभूतिपाद और कैवल्यपाद नामक चार पादों में विभक्त है। इस ग्रन्थ में बहुत ही थोड़े शब्दों में आत्म-कल्याण के बहुत ही उपयोगी उपाय बताये गये हैं।

इस ग्रन्थ में पुरुष विशेष ईश्वर का प्रतिपादन करके उसकी शरणागति को आत्म-साक्षात्कार का कारण बताया है। परन्तु ईश्वर को जानने का कोई भिन्न साधन नहीं बताया गया। इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि वहाँ तक न तो मन बुद्धि आदि तत्वों की पहुँच है और न उस प्रकृतिस्थ पुरुष की ही। वह एकमात्र प्रकृति से अलग विशुद्ध आत्म-तत्व से ही प्रत्यक्ष किया जा सकता है, जैसा कि श्वेताश्वतरोपनिषद् में कहा है—

> यदाऽऽत्मतत्त्वेन तु ब्रह्मतत्त्वं
> दीपोपमेह युक्तः प्रपश्येत्।
> अजं ध्रुवं सर्वतत्त्वैर्विशुद्धं,
> ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्व पाशैः॥
> अर्थात् २-१५

जब योगी यहाँ दीपक के समान (प्रकाशमय) आत्म तत्व के द्वारा ब्रह्मतत्त्व को भलीभाँति प्रत्यक्ष देख लेता है, उस समय वह उस अजन्मा, निश्चित समस्त तत्वों से विशुद्ध परमदेव परमात्मा को जानकर सब बन्धनों से सदा के लिए छूट जाता है।

कोई भी सच्चा सम्बन्ध सजातीय तत्व से ही हो सकता है विजातीय से नहीं। ईश्वर

का सजातीय तत्व आत्मा ही है अतः उसी से उसका प्रत्यक्ष अनुभव हो सकता है। अन्य जड़ तत्वों से नहीं।

इस शास्त्र में प्रकृति के चौबीस भेद एवं आत्मा ईश्वर—इस प्रकार कुल २६ तत्व माने गये हैं, उनमें प्रकृति तो जड़ और परिणामशील है अर्थात् निरन्तर परिवर्तन होना उसका धर्म है तथा मुक्त पुरुष और ईश्वर ये दोनों नित्य चेतन, स्वप्रकाश, असङ्ग, देशकालातीत, अपरिणामी और सर्वथा निर्विकार हैं। प्रकृति में बँधा हुआ पुरुष अल्पज्ञ, सुख दुःखों का भोक्ता, अच्छी बुरी योनियों में जन्म लेने वाला और देशकालातीत होते हुए भी एक देशी-सा माना गया है।

इसके लिए योगशास्त्र में वर्णित साधनों का प्रायः उपनिषद, गीता, भागवत आदि सभी धर्म ग्रन्थ समर्थन करते हैं अतः प्रत्येक साधक को योग दर्शन में बताए हुए साधनों का श्रद्धापूर्वक सेवन करना चाहिए।

—हरिकृष्णदास गोयन्दका

योग क्या और क्या नहीं ?

इस दर्शन की दृष्टि में योग क्या है और क्या नहीं, यह संक्षेप में कहा जा रहा है। अभ्यास और वैराग्यपूर्वक चित्तवृत्ति का निरोध करना ही मोक्ष प्रापक योग है। चित्तवृत्ति निरोध का अर्थ है—मन में एक ही ज्ञान को उदित रखकर अन्य सभी ज्ञानों का निरोध (सम्प्रज्ञात) अथवा सर्व व्यावहारिक ज्ञानों का, निद्रा का भी निरोध (असम्प्रज्ञात) अभ्यास का अर्थ है—पुनः पुनः चेष्टा करना। अतः बार-बार चेष्टा का इच्छापूर्वक जो चित्तवृत्ति निरोध है, वही योग कहलाता है।

एक ही ज्ञान को स्थिर रखकर अन्य को रुद्ध करना रूप योग का तात्पर्य है। जब एक शान्त भाव से कुछ काल तक एक ही ज्ञानवृत्ति रखी जा सकती है तब उसे ध्यान रूप योगाङ्ग कहते हैं और जब यही एक तानता इतनी प्रगाढ़ होती है कि और सब भूलकर यहाँ तक कि अपने को भी भूलकर केवल ध्येय विषय में चित्त को स्थिर रखा जाता है तब उसे स्वेच्छाधीन समाधि कहते हैं। समाधि का यह लक्षण सम्यक् रूप से समझना चाहिए। अज्ञ लोग अनेक प्रकार के स्तब्ध भावों को या आविष्ट भावों को अथवा बाह्य ज्ञान शून्य भाव को अथवा उसी प्रकार के अन्य किसी भाव को जो समाधि समझ बैठते हैं, उनके साथ योग का कोई भी सम्बन्ध नहीं है।

विषयभेद से समाधि भी अनेक प्रकार की होती है। समाधि सिद्ध होने से ज्ञान और इच्छा शक्ति का सम्यक् उत्कर्ष होता है। जिसमें यह उत्कर्ष नहीं है उसकी समाधि सिद्धि भी नहीं है ऐसा समझना चाहिए।

यह विचार है योग के विषय में स्वामी हरिहरानन्द आरण्य के जो उन्होंने अपने ग्रन्थ पातञ्जल योगदर्शनम् के आमुख में व्यक्त किये हैं।

इसी आरण्यक जी के व्याख्यात दर्शन के सम्पादक डा० रमाशंकर भट्टाचार्य ने अपने विचार व्यक्त करते हुए लिखा है :

इस देश में परम सूक्ष्म योग विद्या किस वाञ्छित स्थिति में है, यह इससे भी विज्ञात होगा कि अनेक संस्थाओं में योग का अन्तर्भाव खेल-कूद, स्पोर्टस और मनोरंजन में किया जाता है। कुछ संस्थाओं के इस हेय दृष्टिकोण का प्रत्यक्ष अनुभव मुझको है। योग के विषय में एक उपहासजनक मत यह भी है कि योगाभ्यास आत्म ज्ञान का विरोधी है। योग के स्वरूप विषय में अज्ञता ही इन सब असत् मतों का हेतु है।

शरीर इन्द्रियां मन आदि सभी योग-शास्त्र के विचार्य विषय अवश्य है, पर केवल मोक्ष रूप परम शान्ति ही योग का सर्वोच्च लक्ष्य है और इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए ही दृश्य पदार्थों का विश्लेषण किया गया है अपवर्ग की दृष्टि से योग की दृष्टि से नहीं। इस आधार पर कहा जाता है :

अर्थ तु परमोक्षार्थो यद् योगेनात्म दर्शनम् ।

यह कहना आवश्यक है कि योग विद्या के सूक्ष्म तथ्यों को समझने के लिए इस मार्ग में पदार्पण करना पड़ता है और तभी समाधानों का स्वारस्य भी भली भाँति समझ में आता है। सूक्ष्म जगत के अनेक ऐसे गूण मर्म स्वभाव हैं जो सहसा बहिर्मुख दृष्टि से समझ में नहीं आते पर धैर्य पूर्वक अनुशीलन करते रहने से वे सूक्ष्म नियम जिज्ञासु के हृदय में स्वतः ही विज्ञात हो जाते हैं—यह हमारा प्रतिदिन का अनुभव है।

दर्शनों का पूरक योग

समस्त वैदिक दर्शन जिन विविध विषयों का विवेचन प्रस्तुत करते हैं उनमें योग दर्शन का अपना विशिष्ट प्रतिपाद्य है। जो अन्य दर्शनों को आपेक्षित होते हुए भी उनमें विवृत नहीं हुआ। सभी दर्शन तत्व ज्ञान से मोक्ष प्राप्ति अथवा अत्यन्त दुःख निवृत्ति का निर्देश करते हैं। तत्व ज्ञान है—तत्वों का यथार्थ साक्षात् रूप में जान लेना। तत्वों की दो विधा हैं—एक चेतन दूसरी जड़। समस्त विश्व इन्हीं दो विधाओं में सिमिटा है। तीसरा कोई प्रकार नहीं। दर्शनों में मतिभेद से यह मान्यता तो सामने आई है कि वस्तु तत्व के दो प्रकार न मानकर एक से ही वैचारिक कार्य चलाया जा सकता है। चाहे वह एक चेतन हो या जड़। परन्तु सांसारिक परिस्थितियों पर गम्भीर चिन्तन से यह तथ्य स्पष्ट रूप से उभर कर सामने आता है कि इन दोनों में से पहली एक चेतन मात्र मान्यता का प्राबल्य केवल वाचिक जगत में दिखाई देता है, व्यवहार या आचरण में कभी कहीं अंश मात्र अस्तित्व भले रहता हो। इसके विपरीत एकमात्र जड़ सत्ता का प्राबल्य समस्त आचरण व व्यवहार में भरपूर रहता है। तात्पर्य है—अध्यात्म केवल वाचिक चर्चाओं का विषय अवश्य रहता है, अधिभूत का अस्तित्व मानव मात्र के आचरण में आने वाला उजागर विषय है।

वास्तविकता यह है—सांसारिक स्थिति अपने स्वरूप से किसी एक मान्यता के विषय में गवाही नहीं देती। एकमात्र मान्यता वाला कोई दर्शन सांसारिक स्थिति की कसौटी पर खरा नहीं उतरता। जड़वादी का चेतन से पीछा नहीं छूटा और चेतनवादी जड़ तत्व की मान्यता से अपना पीछा नहीं छुड़ा सका। इसलिए निर्दोष मार्ग यही है कि बिना किसी खटपट के दोनों सत्ताओं को स्वीकार कर विचार किया जाय। इस स्थिति में यह कार्य सामने आ जाता है, जिसका विवेचन करने के लिए शास्त्रों का उद्भव हुआ। वह है चेतन और जड़ तत्वों के स्वरूपों का साक्षात्कार। संसार में क्या और कितना चेतन है? और क्या और कितना जड़ है?

× × ×

सभी दर्शनों में चेतन आत्म तत्व का यथावश्य उपेक्षित वर्णन है परन्तु तत्वज्ञान के रूप में कहे जाने वाले चेतन और जड़ के पारस्परिक भेद का साक्षात्कार ज्ञान जिन पद्धतियों द्वारा होता है उनका कुछ भी विवरण इन दर्शनों में नहीं है। पर इस निमित्त उन उपायों के उपयोग के लिए निर्देश अवश्य किये हैं। गौतमीय न्याय सूत्रों में यह स्पष्ट कहा है समाधि सिद्धि के लिये यमनियम आदि के आचरण से रागादिमलों के नाश

द्वारा आत्मा को शुद्ध संस्कार-युक्त बनाकर योग एवं अध्यात्म शास्त्रों में बताये उपायों का अवलम्बन करना चाहिए। योग प्रतिपादित उपायों से आत्मा में जो एक विशिष्ट सामर्थ्य आविर्भूत हो जाता है वह योगज धर्म है वैशेषिक दर्शन के अनुसार इसी को धर्म विशेष कहा है। इसी के द्वारा समस्त पदार्थों का वास्तविक साक्षात्कार होता है। योग विद्या का निरूपण करने वाला योगदर्शन प्रयोगात्मक शास्त्र है। जहाँ तक सृष्टि विद्या, सर्गरचना, प्राकृतिक एवं भौतिक पदार्थों के विवेचन आदि का प्रश्न है, उस अंश में योगशास्त्र सांख्य के साथ पूर्ण समता रखता है कहीं किसी प्रक्रियागत आंशिक भेद का होना नगण्य समझना चाहिए। इतने से कोई सिद्धान्त भेद उभर कर सामने नहीं आता। इस दर्शन में कुल चार पाद और १९५ सूत्र हैं जो समाधि पाद, साधन पाद, विभूति पाद और कैवल्य पाद, चार भागों में बंटे हैं। प्रत्येक पाद भाग का नाम उसके प्रतिपाद्य विषय के आधार पर किया गया है इससे प्रकरण पूर्वक विषय के समझने में सुविधा रहती है। —डा० उदयवीर शास्त्री

सांख्य और योग का सम्बन्ध

सांख्य और योग परस्पर भिन्न नहीं है। योग में भी सांख्य प्रतिपादित तत्व माने गये हैं।

सांख्य में पञ्च विंशतितत्व माने गये हैं, योग में भी माने गये हैं। प्रकृति और पुरुष का संयोग संसार है। और उसका वियोग मोक्ष है—यह तत्व भी दोनों शास्त्रों में समान रूप से स्वीकार किया गया है। सांख्य ज्ञान प्रधान है, और योग क्रिया प्रधान है। सांख्य में तत्व-मीमांसा है, योग में चित्त-वृत्ति निरोध के उपायों का वर्णन किया गया है। मोक्ष प्राप्ति के साधनों के विषय में दोनों में कुछ अन्तर है। सांख्य पंचविंशति (पच्चीस) तत्वों को मोक्ष का कारण मानता है और योग में चित्तवृत्ति के निरोध की पराकाष्ठा को पुरुष के स्वरूप में अवस्थान का कारण बतलाया है। योग में ईश्वर नाम का छब्बीसवाँ तत्व भी माना गया है, यह भी योग की विशेषता है। चार्वाक् को छोड़ कर प्राय: सभी शास्त्रों में शरीर और चित्त की शुद्धि के लिए यौगिक क्रियायें प्रशस्त मानी गई हैं। —कान्तानाथ शास्त्री तैलंग

ऋतम्भरा प्रज्ञा की श्रेष्ठता

योगदर्शन की एक विशेषता यह भी है कि एक गूढ़ विद्या का प्रकाशन माना जाने पर भी उसमें अन्ध श्रद्धा और शब्द प्रमाण को बहुत अधिक महत्व नहीं दिया गया है, वरन् प्रत्यक्ष अनुभव और ज्ञान को ही सबसे बढ़कर माना गया है समस्त योग सम्बन्धी साधनाओं का फल चार प्रकार की समाधि होता है और समाधि का फल ऋतम्भरा प्रज्ञा बतलाया गया है, जैसा कि समाधि पाद के ४८ वें सूत्र में कहा गया है—

ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा

× × ×

योग मार्ग और सिद्धियाँ :

योग साधन में सिद्धियों का वर्णन एक बड़ा विवादास्पद विषय है। यद्यपि सभी शास्त्रों और महापुरुषों ने सिद्धियों को हेय तथा मोक्ष मार्ग में विघ्न रूप माना है फिर भी उनका वर्णन स्थान-स्थान पर मिलता है और कहीं-कहीं उनकी प्रशंसा भी मिलती है। साधारण लोग तो सदा से उन पर विश्वास रखते आये है और उनकी समझ में वास्तविक योगी वही है जो अपनी सिद्धियों के बल पर असम्भव समझे जाने वाले कार्यों को करके दिखाए। स्वयं पातञ्जलि योगदर्शन में ही सिद्धियों का

● (शेष पृष्ठ ६७ पर)

ब्रह्मलोक प्राप्ति के साधन

★ ★ ★ ★ ★ ★ ● श्री काका कालेलकर ● ★ ★ ★ ★ ★ ★

सम्भव है कि दस उपनिषदों में प्रश्नोपनिषद् अधिक पुराना है इसमें छः प्रश्न कर्ता शिष्य भाव धारण कर पिप्पलाद् ऋषि से प्रश्न पूछने आते हैं।

स्कन्ध पुराण में लिखा है कि पिप्पलाद् याज्ञवल्क्य के लड़के थे लेकिन अगर प्रश्नोपनिषद् सबसे पुराना हो तो यह कोई दूसरे पिप्पलाद् ऋषि होने चाहिए।

उन्होंने आये हुए शिष्यों से कहा, "एक साल ब्रह्मचारी बनकर यानी शिष्य बनकर मेरे आश्रम में रहो बाद में जो पूछना है सो पूछ सकते हो। उन्होंने वैसा ही किया पिप्पलाद् ऋषि में नम्रता थी साथ-साथ साधना का भी आग्रह था। उन्होंने शिष्यों से कहा आप सवाल पूछ सकते है अगर जबाब मेरे पास है तो दूंगा। मेरे पास कितना है कितना नहीं है यह भी साफ-साफ कहूंगा जो ज्ञान मेरे पास है वह अगर मैंने नहीं दिया तो मेरा नाश होगा।" इन छः शिष्यों ने कौन से प्रश्न पूछे और पिप्पलाद् ने कौन से जवाब दिये इसके विस्तार में हम नहीं जायेंगे। हम तो एक ही श्लोक लेंगे—

> तेषां एव एष ब्रह्मलोको येषां तपो
> ब्रह्मचर्यं येषु सत्यं प्रतिष्ठितम्।
>
> तेषां असौ विरजो ब्रह्मलोका
> न येषु जिह्मं अनृतं न माया च इति॥

अर्थात्—यह ब्रह्मलोक उन्हीं को मिलता है जिनके अन्दर तप, ब्रह्मचर्य और सत्य स्थिर हुआ है दुःख एवं रजोगुण से मुक्त ब्रह्मलोक उन्हीं को मिलता है जिनमें जिह्म (टेढ़ापन) नहीं है, अनर्थ, असत्य, अज्ञान नहीं है और माया यानी दूसरों को ठगने का कपट नहीं है।

यहाँ तप का अर्थ है संयम और परिश्रम इन्द्रियों का संयम करना और निष्पाप जीवन जीने के लिए, ज्ञान प्राप्ति के लिए शारीरिक और बौद्धिक मेहनत करना यही सच्चा तप है। परिश्रम करने से शरीर तपता है गर्म होता है।

ब्रह्मचर्य के दो अर्थ हैं ब्रह्म यानी वेद (यानी अध्यात्म ज्ञान के ग्रन्थ) इन्हीं के अध्ययन के लिये अपने जीवन में जरूरी परिवर्तन करना यही ब्रह्मचर्य है इसलिये ब्रह्मचर्य का अर्थ हो गया वीर्य रक्षा। मनुष्य के शरीर में जो वीर्य पैदा होता है उसीमें उसके सारे शरीर का सार एकत्र होता है वीर्य में अद्भुत शक्ति है। उसी के द्वारा एक सम्पूर्ण जीवित शरीर पैदा होता है इस वीर्य की शक्ति का संयम करके उसका उपयोग ब्रह्मज्ञान के लिये किया तो मनुष्य का उद्धार हो जाता है इसलिये ब्रह्मचर्य का अर्थ होता है कामादि विकारों पर काबू प्राप्त करके वीर्य की रक्षा करना, और उस वीर्य शक्ति की मदद से सर्वोच्च ज्ञान प्राप्त करने की सामर्थ्य पाना और उसी ज्ञान के अनुसार ब्रह्मरूप हो जाने के लिये जरूरी साधना करना।

सत्य का अर्थ होता है जीवन का सर्वोच्च रहस्य और उसी को पाने के लिये समस्त जीवन का उपयोग करने का निश्चय। परमात्मा ही परम सत्य है और वही हमारे हृदय में आत्मा के रूप में विद्यमान है इस आत्म-शक्ति को जागृत करके परमात्मा के साथ एकरूप हो जाना यही होता है सच्चा

और अन्तिम जीवन योग। इस श्लोक में बताया गया है कि तप ब्रह्मचर्य और सत्य यही है साधना इसीके द्वारा ब्रह्मलोक की प्राप्ति होती है।

साधना में जिह्म, अनृत और माया ये तीन दोष दूर करने ही होंगे। जैसाकि हमने ऊपर कहा है जिह्म के माने है टेढ़ा पर जीवन योग की साधन शुरू की तो उसके बाद इस साधना के विपरीत जो-जो बातें हैं वे सब जिह्म है विषयानन्द अहंकार और लोभ आदि सब बातें जिह्म में आ जाती हैं। सत्याचरण को ऋत कहते हैं इसके विरुद्ध आचारण हो गया अनृत जो हम जानते हैं उसे न कहना और नहीं जानते हैं उसे जानने का दम्भ करना दोनों अनृत हैं।

माया कहते हैं कपट यानी ठगने की वृत्ति को। अध्यात्म की साधना में आगे बढ़ने पर कभी-कभी गूढ़ शक्तियाँ मनुष्य में पैदा होती हैं उनकी ओर ध्यान ही नहीं देना चाहिये उन शक्तियों का उपयोग आप ही आप हो गया तो ठीक है लेकिन ऐसी शक्तियों का (विभुतियों का) दावा करना उनकी अतिशयोक्ति करना और समाज में अपनी प्रतिष्ठा बढ़ाने का प्रयत्न करते रहना यह सब माया ही माया है। माया का एक अर्थ है शक्ति। शक्ति के दुरुपयोग को यहाँ माया कहा है। जिह्म अनृत और माया। इन दोषों से जो मुक्त है वही ब्रह्मलोक को प्राप्त कर सकता है औरों को उसी साधना में मदद भी दे सकता है। प्रश्न उपनिषद् में से यहाँ एक श्लोक लेकर उसका विवेचन किया है।

× × × ×

प्राचीन काल में आत्म-साधना का, ब्रह्म साधना का जो प्रयत्न चला उसके बारे में थोड़ा कहना जरूरी है।

इस सारे विश्व का रहस्य समझने के लिए हमारे पास क्या साधन हैं सो हम प्रथम देखें।

पञ्च ज्ञानेन्द्रिय और पञ्चकर्मेन्द्रिय यह है हमारा प्राथमिक साधन इन दस इन्द्रियों से काम लेने वाला आन्तरिक इन्द्रिय है मन। संस्कृत में इन्द्रियों को करण भी कहते हैं इन इन्द्रियों से काम लेने वाला जो आन्तरिक इन्द्रिय है उसका नाम हुआ अन्तःकरण यही है मन, बुद्धि, चित्त और भावना इनकी शक्तियाँ बढ़ानी चाहिए शरीर जीवित है तब तक उसमें गुण काम करता है। प्राण, अपान, व्यान और समान प्राण के ही ये भिन्न-भिन्न स्थान और रूप है जो प्राण मुझ में है वही सबमें है। इसलिये दूसरों की प्राण शक्ति मैं जगा सकता हूँ।

यह प्राण-शक्ति आई कहाँ से? आती है सूर्य से। लोग मानते हैं कि सूरज से हमें उष्णता और प्रकाश मिलते हैं लेकिन इन दोनों की अपेक्षा कई गूढ़ ये शक्तियाँ हमें सूर्य से मिलती है। इसीलिये सूर्य के उगते ही ऋषि उत्साह से उसका स्वागत करते हुये कहता है "प्राणः प्रजानां उदयति एष सूर्यः।" जो प्राण मुझमें है वह सब प्राणियों में है उसका उद्गम ही सूर्य है। इसीलिये जब लड़के को गुरु के पास भेजकर विद्यारम्भ कराते हैं तब उसे गुरु सूर्य की स्तुतिपरक एक मन्त्र सुनाते हैं 'ओम् तत्सवितुर्वरेण्यं भर्गो देवस्य धीमहि धियोयोनः प्रचोदयात्।' प्राचीन काल में लोगों ने देखा कि सूर्य की उष्णता से कृषि भूमि का कस बढ़ता

प्रेत-बाधा निवारण

★ श्री पन्नालाल (मिर्जापुर)

यूँ तो अकारण दयालु आराध्यदेव श्री सद्गुरुदेव श्री महाराज की करुण कृपा से अनेकानेक प्रेत-बाधा पीड़ित प्राणियों को केवल उस दयानिधान श्री प्रभुजी के शुभ-संकल्प या उनके कर-कमलों के स्पर्शमात्र से पूर्णतया स्वस्थ, प्रसन्न तथा निरोग होते देखा गया है, परन्तु उनके सर्व हितकारी रज-प्रसाद के द्वारा किसी प्रेत-बाधा पीड़ित प्राणी के पूर्णतया स्वस्थ एवं निरोग होने की घटना कम ही प्रकाश में आया करती है। वैसे रज-प्रसाद खिलानेसे प्रेत-बाधा का प्रभाव तत्काल कम हो जाया करता है, जिसमें हमारे एक आदरणीय गुरु-भाई द्वारा दिये गये सर्व हित-कारी श्रीप्रभुजी के रज-प्रसाद से एक महिला की प्रेत-बाधा पूर्णतया दूर हो गई। यह घटना हमारे 'श्री सिद्धगुफा' योग-प्रचार मण्डल लखनऊ शाखासे संबन्धित है, जिसका अपना आश्रम आवास-विकास कालोनी राजाजीपुरम में है। इस आश्रम को हमारे गुरु-भाई एवं अनन्य गुरु-भक्त श्री मोहनलालजी ने गुरुदेव भगवान् की इच्छानुसार ही बनवाया है। हमारे आदरणीय गुरु-भाई ब्रह्मचारी श्री ओमप्रकाशजी पालीवाल यहाँ के मुख्य साधक हैं। घटनाक्रम कुछ इस प्रकार घटित हुई कि इस राजाजीपुरम कालोनी में ही निवास करने वाला एक ब्राह्मण बालक करीब नौ बजे लखनऊ आश्रम पर गया। उस समय प्रातःकाल की आरती-पूजन का कार्य समाप्त हो गया था, परन्तु श्री ब्रह्मचारीजी हमारे कुछ गुरु-भाई-बहनों के साथ आश्रम में ही उपस्थित थे। उसने श्री प्रभुजी एवं श्रीमहा-प्रभुजी के स्वरूपों को प्रणाम करने के बाद ब्रह्मचारी जी को प्रणाम किया एवं फिर पूछा कि क्या योग द्वारा सभी रोगों का इलाज

है। जमीन में बोये हुऐ धान्य उगते हैं ऐसा देख और जानकर मुक में सूर्य की उपासना करने लगे। ऐसी उष्णता और प्रकाश हम अन्यत्र कहाँ से पा सकते हैं। आजकल दिया-सलाई से हमें तुरन्त प्रकाश मिल जाता है लेकिन इसके पीछे हजारों वर्षों की वैज्ञानिक साधना है।

लोहे के टुकड़े को चकमक पर घिसने से अग्नि प्रकट होती है इसका अनुभव गाँव के लोगों को है जब दियासलाई नहीं थी तब चकमक के पत्थर और लोहे के टुकड़े से ही अग्नि प्रकट करते थे लेकिन जब लोहे का अविस्कार नहीं हुआ था तब उष्णता और प्रकाश पैदा करने का साधन क्या था? बिलकुल सूखी हुई लकड़ियों को एक दूसरे पर रखकर रगड़ने से तब प्रकाश और उष्णता पाई जाती थी। ये लकड़ियाँ अरणी कहलाती थीं यही थी मनुष्य के प्रयत्न से अग्नि पैदा करने की साधना।

बड़ी मेहनत से जो अग्नि प्राप्त की उसे सम्हालना जलते रखना और उसे पोषण देना यही था संस्कृत का बड़ा काम इसका नाम हुआ यज्ञ। यज्ञ हो गया सबसे श्रेष्ठ धर्मकृत्य सूर्य और अग्नि दोनों ही हो गये समस्त पुरु-षार्थ और सिद्धि के साधन इसलिए अध्यात्म ग्रन्थों में प्राण, सूर्य, अग्नि, यज्ञ आदि तत्वों की चर्चा बार-बार आती है।

किया जा सकता है ? ब्रह्मचारीजी ने बतलाया कि हाँ, किया जा सकता है, कहो तुम्हें क्या रोग है ! उसने कहा कि ब्रह्मचारीजी ! हम तो निरोग हैं, हमारी बहन रोगी है। वह एक सरकारी कार्यालय में "टाइपिस्ट कम स्टेनो" का कार्य करती है। पिछले कई महीनों से उसके हृदय में बराबर दर्द बना रहता है। कई योग्य डाक्टरों की दवा कराई, परन्तु कोई लाभ नहीं हुआ। जिस किसी भी हकीम, वैद्य या डाक्टर को हमारे शुभ-चिंतक ने बताया उसे दिखाने की सलाह दी, हमने दिखलाया, परन्तु रंचमात्र भी लाभ नहीं हुआ। कुछ डाक्टरों की राय है कि उसके हृदय में घाव हो गया है, परन्तु ऐक्स-रे कराने पर कुछ भी नहीं आया। मैं तो बहुत परेशान हो गया हूँ। मैं इसी परेशानी में व्यग्र था कि हमारे एक शुभ-चिन्तक ने, जो आपके इस आश्रम से सम्बन्धित हैं यहाँ का पता दिया और यह भी बतलाया कि यहाँ पर साध्य-असाध्य रोगों की निवृत्ति का मार्ग निःशुल्क किया जाता है। अतः मैं यह जानकारी लेना चाहता हूँ कि क्या हमारी बहन का उपचार यहाँ हो सकेगा ?

ब्राह्मण बालक की सम्पूर्ण बातों को धैर्यपूर्वक शांत मन से सुनने के बाद श्रीब्रह्मचारीजी ने बालक से कहा कि भाई बिना देखे हम कुछ भी बतलाने की स्थिति में नहीं हैं। रोगी को देखने के बाद ही कुछ कहा जा सकेगा ! अतः तुम एक काम करो, सायंकाल अपनी बहन को आश्रम पर लेकर आओ, संकोच की तनिक भी आवश्यकता नहीं है। हमारी बहुत सारी गुरु-बहनें सायंकाल भजन, कीर्तन एवं आरती में सम्मिलित होती हैं। अतः आज सायंकाल तुम श्री प्रभुजी की आरती-पूजा एवं भजन में अपनी बहन के साथ सम्मिलित हो जाओ। उनकी बातों को सुनकर वह बालक श्री प्रभुजी एवं श्री महाप्रभुजी के स्वरूपों को प्रणाम कर अपने निवास-स्थान को चला गया।

सायंकाल जब वह लड़का आश्रम पर अपनी बहन के साथ पहुँचा तो उस समय भजन-कीर्तन का कार्य समाप्त हो चुका था एवं हमारे आदरणीय गुरु-भाई ब्रह्मचारी श्री ओमप्रकाशजी पालीवाल आनन्दकन्द आराध्यदेव श्री सद्गुरुदेवजी महाराज तथा अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड-नायक योग-योगेश्वर हमारे दादा गुरुदेव महाप्रभु श्री रामलालजी महाराज के दिव्य स्वरूपों की आरती कर रहे थे। इन स्वरूपों के सामर्थ्य की बात को समझाने एवं समझनेके लिये हम अपने आश्रम से सम्बन्धित एक प्रसङ्ग का वर्णन करना यहाँ उचित समझते हैं। घटनाक्रम उस समय की है, जब हमारे-आपके और प्राणीमात्र के भाग्य-विधाता अकारण दयालु हमारे दादा गुरुदेव श्री रामलालजी महाराज इस धराधाम पर सशरीर विराजमान थे। श्रीनरसिंह मूर्तिजी उनके बड़े ही प्रिय एवं लाड़ले शिष्य रहे हैं। अभी चार वर्ष पूर्व योगिराज श्री नरसिंह मूर्तिजी की जीवन-ज्योति श्रीमहाप्रभुजी के अमर-ज्योति में विलीन हो गई। योगिराज श्रीनरसिंह मूर्तिजी के अनुयायियों की संख्या भी काफी है। आंध्राकी महारानी भी इनकी शिष्या है। एक बार श्री नरसिंह मूर्तिजी एक शक्ति पीठ में गये एवं वहाँ लम्बे समय तक अनुष्ठान करने लगे। इसी बीच आंध्रा की महारानी उनके दर्शनार्थ उनके निवास-स्थान पर गयी, तो उनकी धर्म-पत्नी

ने बतलाया कि किसी एकान्त स्थान में अनुष्ठान करने गये हैं। महारानी ने प्रश्न किया कि गुरुदेव भगवान् के दर्शन कब तक होने की आशा है? तो उनकी गुरु-माताजी ने बतलाया कि कोई निश्चित तिथि नहीं बता गये हैं। अतः यह बतलाना सम्भव नहीं है कि वे कब तक वापस आएंगे। आंध्रा की महारानी अपने गुरुदेव भगवान् के निवास-स्थान से जब अपने घर को रवाना हुई तो उसके मन में विचार आया कि चलकर कावेरी मठ के शंकराचार्यजी का ही दर्शन-लाभ ले लिया जाय। अतः वे कावेरी मठ के शंकराचार्यजी के पास चली गयी। उन्होंने कावेरी मठ के शंकराचार्य जी के चरणों में प्रणाम किया। उचित अभिवादन के बाद महारानी जी ने अपने बक्स से एक वस्तु निकाली एवं कई पर्त कपड़ा हटाने के बाद यह ज्ञात हुआ कि वह किसी का फोटो है। उस फोटो को अपने हाथ में लेकर उसको शंकराचार्यजी को दिखलाते हुए यह प्रार्थना की कि महाराजजी! क्या आप इस स्वरूप को पहचानते हैं तथा इनकी क्या सामर्थ्य है? इस पर शंकराचार्यजी अपने दोनों हाथों से स्वरूप को थामकर लगभग आधा घण्टे तक अपलक निहारते रहे और उनके दोनों नेत्रों से झर-झर आँसू बहते रहे। तत्पश्चात् शंकराचार्यजी के मुखारविन्द से स्वतः स्वर स्फुटित हुआ—'नारायण! स्वयम्-नारायण, स्वयम्-नारायण स्वयम्" उनकी यह मनोदशा देख महारानीजी ने पुनः प्रार्थना की कि महाराज कृपा करके मेरे प्रश्न का उत्तर समझाइये। इस पर शंकराचार्य जी ने कहा कि बेटी इनकी सामर्थ्य की तो जानकारी मेरे वश के परे है। हाँ इस स्वरूप की सामर्थ्य सुनो, इस स्वरूप की ताकत इतनी है कि मरने वाले हजारों-हजारों प्राणियों को यदि एक साथ इस स्वरूप को अन्तिम क्षण में दर्शन करा दिया जाय तो सबको मोक्ष प्राप्त हो जायेगा। यह बात मैं तुमको सत्य-सत्य बतला रहा हूँ, इसमें तनिक भी संशय की बात नहीं है। यह था कावेरी मठ के आदरणीय शंकराचार्य जी महाराज द्वारा आन्ध्रा की महारानी के प्रार्थना के उत्तर में हमारे दादा गुरुदेव महाप्रभु श्री रामलाल जी महाराज के स्वरूप सामर्थ्य का वर्णन।

अब हम लेख के मुख्य विषय की तरफ आपका ध्यान आकृष्ट करते हुये आगे घटित प्रसंग का वर्णन करने का प्रयास कर रहे हैं। ब्राह्मण बालक जो अपनी बहन के साथ लखनऊ आश्रम पहुँचा था, देखा कि सभी लोग खड़े होकर आरती कर रहे हैं। तो वह भी मन ही मन प्रणाम कर अपनी बहन के साथ हाथ जोड़ कर खड़ा हो गया। आरती समाप्त होने के बाद जब ब्रह्मचारी जी प्रभु स्वरूपों से अर्पित जल हमारे गुरु-भाई-बहनों पर डाल रहे थे तो उन्होंने उस जल के छींटे उन नवागन्तुक भाई-बहन पर भी डाले, उस जल के छींटे उस ब्राह्मण बालक की बहन पर ज्योंही पड़े वह जोर-जोर से चिल्लाने लगी। वह कहने लगी हमको जलाने के लिये यहाँ लाये हो, हमको मारने के लिये हो! बाकी सभी समुदाय तो आरती में व्यस्त एवं मस्त था। वह ब्राह्मण कुमारी चिल्ला रही थी, एवं उसका भाई उसे शान्त कराने का प्रयास कर रहा था। आरती समाप्त हो गयी, सब लोग प्रणाम करके बैठ गये, परन्तु वह चिल्लाती रही। काफी देर के बाद उसका चिल्लाना

धीरे-धीरे अपने आप बन्द हो गया। चिल्लाते समय उसने कहा था कि यदि फिर हमको लेकर यहाँ आये तो सबका जीना दूभर कर दूँगा। घर को जला डालूँगा। आरती समाप्त होने के बाद ब्रह्मचारी जी ने बालक से कहा कि इसका रोग तो हम सभी लोगों की समझ में आ गया। अब तुम एक काम करो। नित्य नियम से इसे प्रातः एवं सायं-काल आरती में साथ लेकर आया करो। उस ब्राह्मण बालक ने ब्रह्मचारी जी से कहा कि हमें तो बहुत डर लगता है। यह पुल्लिंग शब्दों में बोल रही थी कि यदि हमको यहाँ फिर लेकर आया तो परिवार के सभी सदस्यों का जीना दूभर कर दूँगा। घर में आग लगा दूँगा। ब्रह्मचारी जी ने बालक को अनेक प्रकार से सान्त्वना दी, एवं कहा कि डरने एवं घबराने की तनिक भी आवश्यकता नहीं है। उन्होंने श्री प्रभुजी द्वारा प्रदत्त रज-प्रसाद श्री महाप्रभु जी के स्वरूप के चरण-कमलों को स्पर्श कराके उसे दे दिया। एवं ऐसे समझा उस बालक को समझा दिया कि जब भी इसकी प्रेत बाधा ज्यादा हो तब तुम्हें इसके द्वारा भय या आतंक महसूस हो, इसमें से थोड़ा सा रज-प्रसाद इसे दे देना। इसके साथ ही उन्होंने यह भी हिदायत दी कि यदि तुम चाहते हो कि तुम्हारी बहन पूर्णरूपेण स्वस्थ हो जाय तो तुम इसे साथ लेकर नित्य-नियम से प्रातः सायं आरती में आया करो, श्रीप्रभु-जी करुणा-सागर हैं, उनकी कृपा होगी यह ठीक हो जायेगी। ब्राह्मण बालक ने हमारे आदरणीय गुरु-भाई श्री ओमप्रकाशजी पालीवाल की बातों का अक्षरशः पालन किया। यद्यपि उसे बहुत ही परेशानी उठानी पड़ी परन्तु वह नित्य-नियम प्रातः—सायं आरती में उपस्थित होता रहा। आखिर दया-सागर को दया आ गई। मात्र एक सप्ताह के अन्दर ही वह प्रेत-बाधा से भयावह स्थिति में पीड़ित ब्राह्मण कुमारी पूर्ण-रूपेण स्वस्थ हो गयी। उसका भाई जिसने श्री प्रभुजी के इस अलौकिक चमत्कार को अपनी आँखों देखा है, बहुत ही प्रभावित हुआ एवं इस समय उसकी श्री प्रभु-चरणों में अनन्य आस्था है।

इस प्रसंग में एक बात और निवेदन करना उचित समझता हूँ कि श्री प्रभुजी द्वारा प्रदत्त रज-प्रसाद यदि आपने किसी पर दयार्द्र होकर उसके कष्ट निवारण के लिए दिया तो उस समय आपके भाव क्या रहे? क्योंकि प्रत्येक वस्तु भाव से ही मिलती है। अतः उचित भाव का होना नितान्त आवश्यक है। यदि श्री प्रभुजी के किसी बच्चे के अन्दर किसी वस्तु विशेष की प्राप्ति के लिये उचित भाव बन गया तो वह वस्तु उसे अवश्य ही मिल जायेगी। इसमें रंचमात्र भी संशय की बात नहीं है। केवल उन्हीं कामनाओं को श्री प्रभुजी पूरा नहीं होने देते जिसके पूरा होने पर शिष्य की आध्यात्मिक प्रगति या यों कहा जाय कि यौगिक-साधना में प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से अन्तराय आने की शंका रहती है।

इस बात को ठीक उसी प्रकार समझ लेना चाहिये जिस प्रकार भगवान् विष्णु ने नारद द्वारा अपना रूप माँगे जाने पर माया-पति भगवान विष्णु ने अपना रूप देना स्वीकार तो कर लिया था, परन्तु नारद का कल्याण करने की नीयत से अपना रूप नहीं प्रदान किया, बल्कि बन्दर का वेश बना

● (शेष पृष्ठ ६२ पर पढ़िए)

औपनिषदिक लघु कथा

प्रजापति ने कहा

●★ श्री अणुव्रत

एक बार प्रजापति ने कहा, "यह जो अजर, अमर विशोक आत्मा है, उसकी खोज का प्रयत्न करना चाहिए, उसको जान लेने की इच्छा रखनी चाहिए।" प्रजापति के ये शब्द देव और असुर, दोनों ने सुने। उन्होंने कहा, चलें, जिस आत्मज्ञान के कारण सभी कामनाएं पूर्ण होती हैं, सभी लोकों की प्राप्ति होती है उस आत्मा की खोज करें। तब देवों में से इन्द्र और असुरों में से विरोचन हाथ में समिधा लेकर प्रजापति के पास आये। दोनों ने ३२ वर्ष ब्रह्मचर्यव्रत का पालन किया। प्रजापति ने कहा, किस इच्छा को मन में रख कर तुम यहां रह रहे हो? उन्होंने कहा, हमने आपको कहते हुए सुना कि आत्मज्ञान से सब कामनाएं पूर्ण होती हैं, सब लोक प्राप्त होते हैं। उस आत्मज्ञान की इच्छा रख कर हम यहां रहते हैं। प्रजापति ने कहा, 'यह जो आंखों में पुरुष दीखता है, वही आत्मा है, वही अभय अमृत ब्रह्म है। "भगवन्, फिर जो पानी में दीखता है, आईने में दीखता है, वह कौन है?' उन दोनों ने पूछा। प्रजापति ने कहा, आंखों में दीखता है, वही वह है।

प्रजापति ने कहा, एक पात्र में पानी लेकर उसमें देखो और उसके बाद जो समझ न आये वह मुझसे पूछो। इन्द्र और विरोचन ने उस प्रकार पानी में देखा। प्रजापति ने पूछा, क्या दिखाई दिया? उन्होंने कहा, ठेठ सिर के बाल से पैर के नाखून तक, ठीक वैसे ही दिखायी दे रहे हैं। प्रजापति ने पुनः कहा, 'अब तुम लोग अच्छे अलंकार, अच्छे वस्त्र पहन कर, सजधज कर पानी में देखो' उन्होंने वैसा ही किया। प्रजापति ने प्रश्न किया—क्या दीख रहा है? उन्होंने कहा, हम ठीक वैसे ही दीख रहे हैं जैसे कि अलंकार पहने हुए हैं, वस्त्र पहने हुए हैं। प्रजापति ने कहा, यही आत्मा, अमृत भयरहित ब्रह्म है।' यह सुन कर दोनों शांत चित्त से अपने-अपने घर जाने के लिए निकले। उनको जाते हुए देख कर प्रजापति ने मन ही मन कहा—आत्मा असल में क्या है यह जाने बिना ही, आत्मा को प्राप्त किये बिना ही ये यहां से जा रहे हैं, इनमें से जो इसको सच्चा ज्ञान मान कर सन्तुष्ट रहेगा, फिर वह देव हो या असुर, उसकी अवनति होगी।

विरोचन असुरों के पास पहुंचा और उसने उनको यह ज्ञान दिया कि 'हम खुद ही आत्मा हैं'। उसने कहा, 'असुरो, जगत खुद ही खुद की सराहना करें, खुद ही खुद की देखभाल करें। आत्मा एव महय्यः आत्मा परिचर्यः ऐसा आचरण करने से यह लोक और परलोक, दोनों प्राप्त होते हैं।' असुरों ने इस बोध को सच्चा बोध माना। उनका औपनिषद तत्त्वज्ञान इस प्रकार का होने के कारण जो श्रद्धाहीन होते हैं, जो किसी को कुछ देते नहीं, जो किसी प्रकार का योग करते नहीं, उनको असुर कहते हैं। शव को भी वे गंधमाल्यादि स्वेच्छा से और वस्त्रालंकारों से सजाते हैं। उनका मानना है कि ऐसा करने से मृत मनुष्य परलोक पर जय पाता है।

इधर इन्द्र देवों के पास पहुंचने से पहले ही सतर्क हो गया। वह सोचने लगा, हम शरीर को जैसे सजायें, संवारेंगे, वैसे ही

पानी में भी आत्मा दीखेगी। फिर अगर यह शरीर अंधा हो तो पानी में की आत्मा भी अंधी होगी। अगर शरीर लंगड़ा हो तो आत्मा भी लंगड़ी होगी। और शरीर का नाश होते ही आत्मा का नाश होगा। ना, प्रजापति की सिखायी बात में कुछ अर्थ दीखता नहीं।

हाथ में समिधा ले कर वह पुनः प्रजापति के पास गया। प्रजापति ने आने का कारण पूछा तब इन्द्र ने अपने मन की शंका उनके सामने रखी। प्रजापति ने कहा, तुम्हारी बात ठीक ही है। मैं तुम्हें और ज्ञान दूंगा, तुम ३२ वर्ष यहां रहो। बत्तीस साल के बाद प्रजापति ने बताया, "स्वप्न आने पर जो आनन्दित होता है, वह आत्मा है, ब्रह्म है।" यह सुन कर इन्द्र को सन्तोष हुआ और वह देवों के पास जाने निकला। मार्ग में उसके मन में फिर से प्रश्न पैदा हुआ कि देह अंधी होने पर भी आत्मा अंधी नहीं होती, देह लंगड़ी होने पर भी आत्मा लंगड़ी नहीं होती। देह का नाश हो जाये, आत्मा का नाश नहीं होता। फिर यह स्वप्न देखनेवाला आत्मा कैसे होगा? उसको मारा जाता है, काटा जाता है, वह दुःख अनुभव करता है, रोता भी है। इन्द्र को इस ज्ञान में भी कोई सार दिखाई नहीं दिया।

हाथ में समिधा ले कर वह पुनः प्रजापति के पास गया। अपनी शंका उनके सामने पेश की। प्रजापति ने उसे और ३२ वर्ष यहां रहने को कहा। ३२ वर्ष के बाद प्रजापति ने कहा, "जब शान्त, गाढ़ निद्रा हो, प्रसन्नता हो, वह आत्मा है, वह ब्रह्म है।" इन्द्र को सन्तोष हुआ और वह जाने निकला। उसके मन में फिर शंका पैदा हुई कि जैसे जागृत अवस्था में अथवा स्वप्न में वह अन्य भूतों को जानता है वैसे गाढ़ निद्रा में किसी को जानता नहीं, वह नाश को ही प्राप्त होता है (विनाशमेव अपीतो भवति, ८. ११. १)। इन्द्र को इसमें भी सार लगा नहीं। इन्द्र की शंका जान कर, प्रजापति ने उसे और पांच वर्ष अपने पास रहने को बताया और कहा, और अब मैं तुम्हें जो बताऊंगा वह अन्तिम होगा।

इस प्रकार इन्द्र प्रजापति के पास १०१ वर्ष रहा। प्रजापति ने कहा—"हे इन्द्र! यह शरीर मर्त्य है। यह मृत्यु के चंगुल में फंसा हुआ है। लेकिन यही शरीर अमर्त्य और अशरीरी आत्मा का अधिष्ठान है। जब तक प्रियाप्रिय का सुख-दुःख होता है, उससे छुटकारा नहीं। परन्तु अशरीरी जो आत्मा है, उसको प्रियाप्रिय का स्पर्श नहीं।

यह आत्मा वायु, अभ्र, विद्युत् जैसे अशरीरी है और जब यह शरीर को छोड़ देती है तब पुनः ज्योति में मिलकर अपना जो मूल रूप है उसे धारण करती है। यह उत्तम पुरुष है।"

इन्द्र ने यह आत्मज्ञान देवों को दिया और देव आत्मा की उपासना करने लगे। इसलिए उन्हें सर्वकाम, सर्वलोक प्राप्त हुए। 'जो उस आत्मा की खोज कर उसे जानते हैं, उन्हें सर्वलोक, सर्वकाम प्राप्त होते हैं', प्रजापति ने यही कहा है।

भविष्य की अनभिज्ञता और भूत का विस्मरण हमारे जीवन को सुखद बनाता है हमें अनेक आपत्तियों की चिन्ता से बचाता है।

★ — प्रभुदत्त ब्रह्मचारी

त्याग

श्री विष्णुप्रसाद व्यास

शास्त्रकारों का कथन है—

न कर्मणा न प्रजया धनेन।
त्यागेनैके अमृतत्वमानुशः॥

—कैवल्योपनिषद्

अर्थ—न कर्म से, न संतान से और न ही बहुत धन से मुक्ति की प्राप्ति सम्भव है। मुक्ति के लिए त्याग के अतिरिक्त अन्य कोई साधन ही नहीं है।

उपरोक्त श्लोक में शास्त्रकारों ने जिस त्याग को ही मुक्ति का एकमात्र साधन बतलाया है, इस लेख में हम उसके वास्तविक स्वरूप पर विचार करेंगे। संसार में आमतौर पर लोग त्याग का यही अर्थ लगाते हैं कि परमात्मा की प्राप्ति अथवा भव-सागर से पार होने के लिए साधना करने हेतु घरबार से सम्बन्ध-विच्छेद करके तथा संसार के सुख भोगों को तिलांजलि देकर वन में निवास करना। किन्तु क्या त्याग का वास्तव में यही अर्थ है? कुछ लोगों के विचार में बेशक इसी का नाम त्याग हो, परन्तु महापुरुषों की दृष्टि में यह सच्चा और वास्तविक त्याग नहीं है। त्याग से वास्तविक अभिप्राय क्या है और त्याग वास्तव में किसे कहते हैं? इस बारे में योग वाशिष्ठ में वर्णित निम्नलिखित कथा ध्यान देने योग्य है—

देवताओं के आचार्य बृहस्पतिजी के पुत्र कच बड़े विद्वान् और शास्त्रों के ज्ञाता थे। यौवनावस्था में पदार्पण करने पर उनके मन में एक दिन यह विचार उठा कि संसार-सागर से पार होने का उपाय करना चाहिये। संसार-सागर से उद्धार की यह आकांक्षा उनके हृदय में उत्तरोत्तर प्रबल होती गई। अन्ततः इसका उपाय जानने के लिये एक दिन वे अपने पिता बृहस्पतिजी के चरणों में उपस्थित होकर पूछने लगे—भगवन्! मैं इस संसार-सागर से कैसे पार हो सकता हूं? बृहस्पतिजी ने उत्तर दिया—पुत्र! इस दुःख रूप संसार-सागर से पार होने का केवल एक ही उपाय है और वह है त्याग। सच्चे मन से त्याग कर देने पर ही मनुष्य संसार के बंधन से मुक्त हो सकता है।

अपने पिता के ये वचन सुनकर कच ने उन्हें प्रणाम किया और सुख-वैभव का परित्याग कर तप करने के लिए वन में चले गये। बृहस्पतिजी तो परम ज्ञानी थे, इसलिये पुत्र के गृह त्याग कर वन में चले जाने से उन्हें तनिक भी शोक न हुआ, क्योंकि ज्ञानवान् पुरुषों का मन संयोग अथवा वियोग दोनों स्थितियों में सुमेरु पर्वत के समान अचल रहता है।

कच को वन में रहते और तपस्या करते हुए जब आठ वर्ष व्यतीत हो गये, तो यह देखने के लिये कि इस अवधि में वह अपने उद्देश्य में कितना सफल हुआ है, बृहस्पति जी उसके पास गये। पिता को देखकर कच ने उठकर आदरपूर्वक उन्हें प्रणाम किया, तत्पश्चात् विधिवत् उनकी पूजा की। जब बृहस्पति जी ने कच से उसकी मानसिक अवस्था के विषय में पूछा, तो कच ने विनय की—पिताजी! आपकी आज्ञानुसार यद्यपि मैंने सब कुछ त्याग दिया है तथापि आज आठ वर्ष व्यतीत हो जाने पर भी मुझे शांति प्राप्त

नहीं हुई। इसका क्या कारण है ?

कच के इस प्रकार के दीन वचन सुनकर बृहस्पति मुनि बोले—वत्स ! सभी का त्याग करो और सच्चा त्याग करो।

यह कहकर बृहस्पतिजी वहाँ से चले गये। उनके चले जाने के उपरान्त कच ने उनके वचनों पर विचार किया। वह मन ही मन सोचने लगा कि पिताजी ने ठीक ही तो कहा है। मैंने पूरा त्याग किया ही नहीं है ! अभी मैंने शरीर पर वस्त्र धारण कर रखे हैं तथा रहने के लिये कुटिया बना रखी है। इसके अतिरिक्त दण्ड, कमण्डल आदि वस्तुएँ भी मैंने रखी हुई हैं, फिर पूरा त्याग कहाँ हुआ ?

यह सोचकर कच ने वस्त्र उतार फेंके, कुटिया को छोड़ दिया और अन्य वस्तुओं का भी परित्याग कर दिया। वे अब वन में दिगम्बर रूप में रहते हुए घोर तप करने लगे। इस प्रकार घोर तप करने से धीरे-धीरे उनका शरीर अति कृश और दुर्बल हो गया। किन्तु मानसिक शान्ति की प्राप्ति होने की अपेक्षा उनका चित्त और अधिक खिन्न एवं उद्विग्न रहने लगा।

कुछ काल उपरान्त बृहस्पतिजी पुनः कच के पास गये। कच ने अत्यन्त श्रद्धापूर्वक उन्हें प्रणाम किया। बृहस्पति ने अत्यन्त स्नेहपूर्वक कच को गले से लगाया, तत्पश्चात् उनकी मानसिक स्थिति के विषय में पूछा।

कच ने कहा—पिताजी ! आपके आदेशानुसार मैंने सबका, यहाँ तक कि दण्ड, कमंडल और वस्त्रों का भी त्याग कर दिया, परन्तु इतने पर भी मुझे न तो मानसिक शांति प्राप्त हुई है और न ही आत्म-पद में मेरी स्थिति हुई है।

बृहस्पति ने कहा—वत्स ! हमने तुम्हें यह कहा था कि सबका त्याग करो और सच्चे हृदय से करो। इससे मेरा यह अभिप्राय कदापि नहीं था कि तुम कुटिया तथा वस्त्रों आदि का परित्याग कर दो। सच्चे त्याग का अर्थ—पदार्थों के प्रति चित्त में से अहम् और ममत्व को निकाल फेंकना। संसार के पदार्थ बन्धन के हेतु नहीं हैं, प्रत्युत उन पदार्थों के प्रति चित्त में अहम् तथा ममत्व का होना बन्धन का हेतु है। अहम् और ममत्व के कारण ही मनुष्य संसार में जकड़ा हुआ है। सांसारिक पदार्थों में अहम् भावना तथा आसक्ति का त्याग कर देने से अपने आप ही सबका त्याग हो जाता है। तब आवश्यकतानुसार सांसारिक पदार्थ उपयोग में लाये जाने पर भी वे बन्धन का कारण नहीं बनते। अतएव अपने चित्त से सांसारिक पदार्थों के प्रति तुम्हारी तनिक भी आसक्ति न हो यही वास्तविक अर्थों में त्याग है और ऐसा त्याग करने पर ही मनुष्य को मानसिक शांति की प्राप्ति होती है।

बृहस्पति के उपदेश से कच के मनरूपी आकाश से अज्ञान के बादल छट गये और सच्चे त्याग का अर्थ भलीभांति उनकी समझ में आ गया। वह संसार को चित्तसे त्यागकर हर समय परमात्म-तत्व में लीन रहने लगा।

इसी प्रकार राजा शिखिध्वज और रानी चुडाला की कथा भी अत्यन्त शिक्षाप्रद है। पाठकों की रुचि के लिए वह कथा भी संक्षेप में यहाँ दी जा रही है।

शिखिध्वज उज्जैन के राजा थे और अत्यन्त सदाचारी, धर्मात्मा तथा प्रजापालक थे। उनकी रानी का नाम चूडाला था। संतों महापुरुषों की संगति प्राप्त होने के कारण

चूडाला के हृदय में बाल्यकाल से ही भजन-भक्ति के संस्कारों का बीजारोपण हो गया था। उसकी आयु के साथ-साथ भक्ति-भजन का वह बीज भी अंकुरित होकर शनैः शनैः बढ़ने लगा। युवा होने पर उसका विवाह राजा शिखिध्वज से कर दिया गया, परन्तु विवाह के उपरान्त भी चूडाला भजनाभ्यास की कमाई करने में लगी रही। भजनाभ्यास में दिन प्रतिदिन उसकी रुचि बढ़ती गई और संसार के प्रति त्याग और वैराग्य की भावना उसके हृदय में दृढ़ होती गई। वह अब पूरी तरह शान्त रहने लगी। संसार के सम्बन्धों, सुख, दुःख आदि द्वन्द्वों, राग तथा इच्छाओं आदि से रहित हो गई। अपनी आत्मा का यथार्थ अनुभव होने पर वह अपने निजस्वरूप में स्थित रहने लगी। और उसके मुख पर एक अनोखा तेज चमकने लगा। रानी चूडाला में ऐसा परिवर्तन देखकर एक दिन राजा शिखिध्वज ने उससे पूछा—चूडाला! तुम्हारा मुख आजकल एक अनोखी आभा से युक्त रहता है। तुम्हारा चित्त भी आजकल प्रशान्त, गम्भीर, चंचलता रहित तथा समता को प्राप्त है। क्या तुमने अमृत का पान कर लिया है?

राजा का यह प्रश्न सुनकर रानी चूडाला ने शान्त मन से उत्तर दिया महाराज! इस समस्त विनाशशील संसार का त्याग कर मैंने अपने चित्त को उस सत्-चित्त आनन्द रूप आत्म-तत्व में लगाया है, जो अखण्ड शाश्वत एवं एकरस है। इन राज-प्रसादों तथा मूल्यवान पदार्थों में त्याग-पूर्वक रहते हुये मैं सदा आत्म-स्वरूप में स्थित रहती हूँ। सांसारिक भोगैश्वर्यों की मेरे हृदय में तनिक भी चाह नहीं है। मैं न तो इनकी प्राप्ति में हर्ष मानती हूँ और न ही इनके वियोग में दुःख, क्योंकि मैं इनकी नश्वरता एवं क्षण भंगुरता को भली-भाँति जान चुकी हूँ। मेरी इन पदार्थों में रंचक मात्र भी आसक्ति नहीं है। प्रारब्धानुसार जो कुछ भी प्राप्त हो जाता है, उसी में सन्तुष्ट रहती हूँ। इस प्रकार चित्त में संसार का त्याग कर सदा परमतत्व में लीन रहती हूँ, इसीलिये आप मुझमें ऐसा परिवर्तन देख रहे हैं।

चित्त को उस परमतत्व में लगाने से जिस अपूर्व एवं अलौकिक आनन्द की प्राप्ति होती है, इसका अनुभव तो वही जानता है, जिसने उस रस का आस्वादन किया है। एक बार इस रस का आस्वादन कर लेने पर मनुष्य को संसार के सब शारीरिक एवं ऐन्द्रिक सुख भोग नीरस और अति तुच्छ प्रतीत होने लगते हैं।

राजा शिखिध्वज ने चूँकि इस अलौकिक आत्मिक आनन्द का रस-पान नहीं किया था, इसलिए वे रानी चूडाला के वचनों का वास्त-

★(पृष्ठ ५८ का शेष)
दिया। इसमें रहस्य की बात यही है कि सिर्फ नारद मुनि का कल्याण करने के लिये ही भगवान् विष्णु ने उनकी मुखाकृति बन्दर की सी बनाई थी। कहने का तात्पर्य मात्र इतना है कि गुरुदेव के किसी कार्य में दोष नहीं देखना चाहिये। वे तो हर क्षण जिज्ञासु का कल्याण करने की भावना रखते हैं। ऐसे क्षण-क्षण कल्याणकारी सर्व-समर्थ श्री गुरुदेव भगवान् के युगल चरण-कमलों में कोटिशः साष्टांग प्रणाम के साथ लेख को यहीं विराम दिया जा रहा है। ❁

किक रहस्य भला क्यों समझते ? चूडाला की बातों को उन्होंने उसकी बे-समझी समझकर कहा—चूडाला ! तुम अभी बाल-बुद्धि हो, इसीसे ऐसा कह रही हो। संसार के ऐश्वर्य भोगों का त्याग करके आकार रहित तथा अस्तित्व शून्य वस्तु में जो अपना चित्त लगाये रहता है, उसका मुख इस प्रकार की अलौकिक कान्ति से शोभित कैसे पा सकता है ? फिर तुमने संसार के भोगों का आनन्द लिया ही कहाँ है। तुम इन व्यर्थ की बातों को छोड़ो और संसार के भोगैश्वर्यों को सुखपूर्वक भोगो।

कहते हुए राजा शिखिध्वज हँसते हुए वहाँ से चल दिए। रानी चूडाला को यह सोचकर अत्यधिक खेद हुआ कि राजा अभी तक अपने वास्तविक स्वरूप से अनभिज्ञ है और उसके चित्त पर सांसारिक वासनाओं की मलिनता चढ़ी हुई है। उसने राजा को कुछ भी कहना अभी उचित न समझा। वह राजा से समुचित व्यवहार करते हुए अधिक समय भजनाभ्यास में ही मग्न रहती। इस प्रकार निरन्तर भजनाभ्यास करते रहने से चूडाला को अणिमा आदि अष्ट सिद्धियाँ प्राप्त हो गईं, परन्तु सिद्धि-शक्ति प्राप्त होने पर भी वह उसी प्रकार शान्त और विकार रहित बनी रही। अष्ट सिद्धियाँ निम्नलिखित हैं—

(१) अणिमा—इसमें अणुरूप धारण कर मनुष्य अदृश्य हो सकता है।

(२) महिमा—इसमें मनुष्य अपनी देह का इच्छानुसार विस्तार कर सकता है।

(३) लघिमा—इसमें मनुष्य अपनी देह का भार हल्का कर सकता है।

(४) गरिमा—इसमें मनुष्य शरीर का भार जितना चाहे बढ़ा सकता है।

(५) प्राप्ति—इसमें अभीष्ट पदार्थ प्राप्त किया जा सकता है।

(६) प्राकाम्य—इसमें मनुष्य जो चाहता है वह हो जाता है।

(७) ईशित्व—इसमें दूसरों पर प्रभुत्व किया जा सकता है।

(८) सम्मोहन—इसमें सम्मोहन द्वारा दूसरे को वश में किया जा सकता है।

इधर राजा शिखिध्वज उसी प्रकार सांसारिक भोगोंको भोगने में लगे रहे, यद्यपि वे सदाचारी और प्रजापालक थे और कभी-कभी कथा-कीर्तन तथा सत्सङ्ग आदि भी श्रवण कर लिया करते थे, परन्तु परमार्थ के यथार्थ भेद से वे पूर्णतः अनभिज्ञ थे। इसी प्रकार समय व्यतीत होता गया और राजा के बालों पर कुछ-कुछ सफेदी झलकने लगी। राजा को अब यह अनुभव होने लगा कि संसार के भोगों से मन को कभी भी तृप्ति नहीं मिल सकती। यह विचार राजाके हृदय में धीरे-धीरे दृढ़ होता गया। उसका चित्त सांसारिक भोगों से उपराम हो गया और उसके हृदय में तीव्र वैराग्य की उत्पत्ति हो गई। फलस्वरूप उन्होंने संसार का त्याग कर के वन में जाकर तपश्चर्या करने का निश्चय किया।

एक दिन राजा शिखिध्वज ने उचित अवसर देखकर रानी चूडाला से कहा—मैंने बहुत दिनों तक राज्य-वैभव और सांसारिक पदार्थों का उपभोग किया है। इन सबसे अब मुझे वैराग्य हो गया है, इसलिए वन में जाकर

तप-साधना करके संसार-सागर मुक्ति प्राप्त करने का यत्न करना चाहता है।

चूड़ाला ने उत्तर दिया—राजन् ! अभी आप युवक हैं, इसलिए अभी आपकी आयु संन्यास धारण करने की नहीं है। अभी आप राज-काज करते हुए प्रजा का पालन करें। उपयुक्त समय आने पर हम दोनों एक साथ ही घरबार त्याग कर वन को चलेंगे।

राजा ने कहा—तुम मेरे अभीष्ट कार्य में विघ्न मत डालो। प्रजा-शासन का दायित्व अब मैं तुम पर छोड़ता हूं। तुम उसका यथोचित पालन करते हुए यहीं रहो।

यह कहकर राजा शिखिध्वज वहाँ से चले गये। तदनन्तर आधी रात के समय जब सब ओर सन्नाटा छा गया और सब लोग गहरी निद्रा में निमग्न हो गये, तब राजा चुपके से उठे और राज-प्रासाद को छोड़कर वन की ओर चल पड़े।

कुछ देर बाद चूड़ाला की अकस्मात आँख खुली, तो उसने राजा को पलंग पर न पाया। वह समझ गई कि राजा वन की ओर निकल गये हैं। रानी को सिद्धि-शक्ति तो प्राप्त थी ही, अतः वह आकाश मार्ग से तुरन्त वहाँ जा पहुंची, जहाँ राजा शिखिध्वज विद्यमान थे। कुछ देर तक तो वह उन्हें देखती रही, फिर यह सोचकर कि अभी मेरा राजा के समीप आना उचित नहीं है, वह वापस लौट आई।

दूसरे दिन प्रातः होते ही उसने राज्य में यह घोषणा करवा दी कि राजा शिखिध्वज किसी विशेष कारण से कुछ दिनों के लिये बाहर गये हैं। इस प्रकार प्रजाजनों को आश्वासन देकर रानी चूड़ाला राज्य की देखभाल करने लगी।

इधर राजा शिखिध्वज चलते-चलते बारह दिनों के उपरान्त एक निर्जन कानन में जा पहुंचे। वहाँ एक उपयुक्त और सुन्दर स्थान देखकर उन्होंने वहीं रहने का निश्चय किया। वहाँ एक सरोवर के किनारे फल-फूलों से लदे अनेकों वृक्ष थे। राजा ने अपने निवास के लिये एक पर्ण-कुटीर बनाई। इसके अतिरिक्त दण्ड, कमण्डल, आसन, चटाई आदि आवश्यक वस्तुयें उपलब्ध कर वे तप साधना में जुट गये।

उन्हें तप करते अठारह वर्ष व्यतीत हो गये। एक दिन रानी चूड़ाला के मन में यह विचार उत्पन्न हुआ कि अब राजा से मिलकर उनकी मानसिक स्थिति के विषय में जानना चाहिये। यह सोचकर वह वहाँ गई, जहाँ राजा शिखिध्वज पर्णकुटी बनाकर साधनारत थे। वहाँ पहुंच कर रानी चूड़ाला ने क्या देखा कि तप-साधना से राजा का शरीर अति दुर्बल हो गया है। चूड़ाला ने मन ही मन विचार किया कि तप-साधना से राजा का चित्त वासनाओं से रहित होकर निर्मल हो गया होगा, इसलिये ज्ञानोपदेश द्वारा राजा को प्रबुद्ध करने का यही उचित अवसर है। किन्तु फिर यह सोचकर कि मेरे कथन पर राजा कदाचित् भली-भाँति ध्यान न दें। चूड़ाला ने सिद्धि-शक्ति द्वारा अपना रूप बदल लिया और एक ब्राह्मण कुमार के रूप में राजा के सामने जा पहुंची। उस तेजस्वी युवक को देखकर राजा ने यह समझा कि यह कोई ऋषि पुत्र है। अतएव उसने अपने आसन से उठकर, दोनों हाथ जोड़कर उसका अभिवादन किया और उसे आसन पर विराजमान होने को कहा।

आसन पर बैठने के उपरान्त ब्राह्मण कुमार के रूप में रानी चूडाला ने राजा शिखिध्वज से पूछा—आप कौन है ? आपको अरण्य वास करते कितना समय हो गया और इतना घोर तप आप किस प्रयोजन से कर रहे है ?

शिखिध्वज ने उत्तर दिया—मैं शिखिध्वज नाम का राजा हूं और संसार का त्याग करके यहां आया हूं। मैं संसार-सागर से पार होना और जन्म-मरण के दुःखों से मुक्ति प्राप्त करना चाहता हूं। मैं चाहता हूं कि संसार में मेरा पुनर्जन्म न हो। मैं वास्तविक और नित्य सुख-शान्ति का इच्छुक हूं और इसी निमित्त ही कठोर तप कर रहा हूं, तथापि अभी तक मुझे सच्ची शान्ति प्राप्त नहीं हुई। इसका क्या कारण है ? ब्राह्मण कुमार के वेष में चूडाला बोली—यदि आप वास्तव में ही शान्ति के इच्छुक है, तो फिर सर्व त्याग का आश्रय क्यों नहीं लेते अर्थात् सब कुछ का त्याग क्यों नहीं करते ?

राजा ने उत्तर दिया—द्विजवर ! मैंने राज्य छोड़ा, अपना महल छोड़ा, धन-सम्पदा छोड़ी यहाँ तक कि अपनी पत्नी का भी त्याग किया। इस प्रकार संसार का त्याग करके मैंने यहां वन में डेरा लगाया, फिर भी आप कहते है कि सर्व त्याग करो। ऐसा क्यों ?

ब्राह्मण कुमार ने कहा—राजन् ! धन, स्त्री, राज्य, महल, बन्धु-बान्धव आदि इनमें से तो कुछ भी आपका अपना नहीं है, फिर इनका त्याग करके आप यह कैसे कह सकते है कि मैंने सबका त्याग कर दिया है ? पूरा त्याग तो आपने अभी तक नहीं किया ?

राजा ने कहा—आप ठीक कहते हैं। अभी यह कुटिया, दंड, कमंडल आदि मेरे पास विद्यमान है। अब मैं इनका भी त्याग करता हूं।

यह कहकर शिखिध्वज ने कुटिया सहित सभी वस्तुओं को आग के हवाले कर दिया। तत्पश्चात् बोले—अब तो मैंने सबका परित्याग कर दिया है।

ब्राह्मण कुमार ने कहा—राजन् ! अभी भी आपने पूरा त्याग नहीं किया। आपने वास्तविक वस्तु का तो अभी तक त्याग किया ही नहीं, जिसका त्याग करने से आपको परम शान्ति की उपलब्धि होना सम्भव है।

राजा कुछ देर तक मन ही मन विचार करता रहा, फिर बोला-त्यागने के लिए अब तो हड्डी, चर्म, मांस तथा रक्त आदि से युक्त मेरा यह शरीर ही शेष रह गया है, मैं इस शरीर को भी गहरे गड्ढे में गिराकर नष्ट करे देता हूं। ऐसा करने पर तो मैं सर्व त्यागी हो जाऊंगा।

ब्राह्मण कुमार ने कहा—राजन् ! इस शरीर ने आपका कौनसा अपराध किया है, जो आप इसे गड्ढे में गिराकर नष्ट करना चाहते हैं। यह शरीर तो पांच तत्वों का एक पुतलामात्र तथा जड़ वस्तु है। इसका त्याग करने से सर्व त्याग नहीं होता। यदि त्याग करना ही है, तो उसका त्याग कीजिए, जिसका परित्याग कर देने पर देहादि समस्त पदार्थों का अपने आप ही त्याग हो जाता है।

शिखिध्वज बोले—वह कौनसी वस्तु है जिसका त्याग कर देने पर सबका त्याग हो

जाता है ? आप मुझे बताइये ।

ब्राह्मण कुमार ने कहा—यह आपका अहंभाव है । आप जो यह कहते हैं कि यह शरीर मेरा है, यह राज्य मेरा है, यह कुटिया मेरी है, यह धन सम्पदा मेरी है इत्यादि यह सब इसलिए कि आप इनमें अहंभाव और ममता रखते हैं । यह अहंभाव और ममता ही जन्म-मरण के बन्धन और सब दुःखों का मूल है । श्रीशंकराचार्यजी प्रश्नोत्तरी में लिखते हैं कि—

किं दुःखमूलं ममताभिधानम् ।

अर्थात् दुःख की जड़ क्या है ? ममता नामक उपाधि ।

इस ममता और अहंभाव का त्याग कर देने से सबका अपने आप त्याग हो जाता है । आप संसार के पदार्थों को आवश्यकतानुसार बेशक उपयोग में लाइये, परन्तु ममता और आसक्ति रहित होकर । यही सच्चा त्याग है ।

यह देखकर कि राजा के मन से अज्ञान का आवरण हट चुका है । रानी चूडाला ने स्वयं को राजा के सामने प्रकट कर दिया । पश्चात् राजा शिखिध्वज रानी चूडाला के साथ अपने राज्य को वापस लौट गये । राज्य का संचालन करते हुए तथा आवश्यकतानुसार सांसारिक पदार्थों का उपभोग करते हुए भी वे अब निरासक्त रहते हैं । सांसारिक पदार्थों तथा सम्बन्धों से अब उनका तनिक भी लगाव न था । काम-काज करते हुए भी उनका चित्त हर समय परमात्म तत्व में लीन रहता ।

इसलिए यदि मनुष्य संसार के बन्धन से मुक्त होना चाहता है तो उसे चाहिए कि समय के पूर्ण सद्‌गुरु की चरण-शरण ग्रहण कर उनसे संसार में रहते हुए ही मुक्त होने की युक्ति मालूम करे ताकि आवागमन के चक्र से मुक्त हो जाय ।

—○★○—

● (पृष्ठ ५२ का शेष)

विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है । यह भी कहा गया है कि सिद्धियाँ समाधि अवस्था की प्राप्ति में विघ्न स्वरूप हैं और व्युत्थान (जाग्रत) अवस्था में सिद्धि हैं अर्थात् योग साधन का जो अन्तिम लक्ष्य असंप्रज्ञात अथवा निर्बीज समाधि है उसमें तो ये सिद्धियाँ उपसर्ग रूप प्रमाणित होती हैं तथा इनका उपयोग अवश्य है कि इनकी प्राप्ति से योग मार्ग में अग्रसर होते हुए योगी का उत्साह-वर्धन होता है पर साथ ही योगी को पातंजल योग दर्शन में यह भी चेतावनी दे दी है कि इनको अधिक महत्व देना या अहंकार में आकर इनका प्रदर्शन करते फिरना कदापि उचित नहीं । इससे योगी का पतन भी होगा और वह योगभ्रष्ट श्रेणी में गिना जायेगा । सैंतीसवें सूत्र में जो यह कहा गया है कि इन सिद्धियों से सम्प्रज्ञात अवस्था में सहायता मिल सकती है वह भी अस्पष्ट-सी ही बात है । हाँ व्यासजी ने अपने भाष्य में इतना संकेत दिया है कि ज्ञान की भाँति समाधि-जन्य ऐश्वर्य अर्थात् सिद्धियाँ सत्य शुद्धि यानी अन्तःकरण की शुद्धि का कारण होती है ।

—आचार्य श्रीराम शर्मा

★ ● ★

स्वाध्याय से सिद्धेश्वर कृपा

★ श्री केशवदेव उपाध्याय

सिद्धेश्वर से हमारा आशय अखिल ब्रह्माण्डनायक, परम योग-योगेश्वर अकारण दयालु, अपने बाबा गुरुदेव महाप्रभु श्री रामलाल जी महाराज से है। वे करुणा सागर श्री प्रभुजी स्वाध्याय करने वाले प्राणियों पर किस प्रकार अहैतुकी कृपा करते हैं, यह तथ्य इस लेख द्वारा स्वतः स्पष्ट हो जावेगा, ऐसी हमें आशा है। घटना से सम्बन्धित हमारी गुरु बहन इस समय इलाहाबाद की निवासिनी हैं, तथा जायसवाल परिवार से सम्बन्धित हैं। इसी वर्ष अर्थात् सन् उन्नीस सौ अठासी के माघ मेला में हमारी इस आदरणीया गुरु बहन ने आराध्यदेव जी की करुण कृपा से विधिवत् योग-दीक्षा ग्रहण की है। श्री चरणों में दीक्षा के पूर्व वे भगवान् शङ्कर पर अनन्य श्रद्धा रखने वाली थीं, भगवान् शङ्कर पर श्रद्धा रखते हुए अनन्य स्वाध्याय से प्रसन्न होकर श्री महाप्रभु जी ने उन पर किस प्रकार कृपा की, इसी रहस्य को अपनी टूटी-फूटी भाषा में लिखकर समझने एवं समझाने का प्रयास किया जा रहा है। जायसवाल परिवार की इस महिला ने जिसका नाम विमलादेवी है, अपना नियम बना लिया था कि इलाहाबाद के बलुआ घाट पर स्थापित पञ्चमुखी महादेवजी के मन्दिर में नित्य प्रातः भजन सुनाया करेगी, एवं उसके बाद मन्त्र जाप किया करेगी। उसने अपने इस नियम का काफी लम्बे समय तक कड़ाई के साथ पालन किया। उसे अपने इस स्वाध्याय के कार्य में आनन्द तो आता था परन्तु कोई ठोस अनुभव या अन्तरानुभूति नहीं हुआ करती थी। श्री पञ्चमुखी महादेवजी के बलुआ घाट पर स्थित इसी मन्दिर पर हमारे परम आदरणीय गुरु भाई एवं आराध्यदेव श्री सद्गुरुदेवजी महाराज के लाड़ले शिष्य श्री रामसजीवनसिंह जी, जो योग-प्रचार मण्डल इलाहाबाद के सक्रिय सदस्य हैं, अपनी ध्यानाभ्यास साधना के लिये जाया करते हैं श्री प्रभुजी ने अपने इस प्रिय बच्चे को मान देते हुए यह आदेश पहले से ही दे दिया कि लल्ला! यौगिक क्रियाओं द्वारा रोगियों का इलाज तुम किया करो। श्री रामसजीवनसिंह आराध्यदेवजी के इस आदेश का अक्षरशः पालन किया करते हैं। शायद यही कारण है कि अपनी ध्यानाभ्यास साधना एवं रोगियों के उपचार हेतु वे भी नित्य सुबह श्री पञ्चमुखी मन्दिर पर जाया करते हैं। वे भी अपने नियम के बिल्कुल ही पक्के हैं। कैसी है श्री प्रभुजी की करुण कृपा, शायद किसी को सुनकर आश्चर्य हो या अतिशयोक्ति लगे परन्तु बात शत प्रतिशत सत्य है कि श्री भाई जी ने जिस रोगी को जो आसन, साधन, या व्यायाम बतला दिया, वह रोगी उसी से ठीक हो गया।

श्री भाई जी ने कृपा करके अनेकों चरित्र इस प्रकार के हमें बतलाने की कृपा की है। चूँकि रामसजीवनसिंह जी नित्य प्रति उपरोक्त मन्दिर पर रोगियों को आसन-साधन बतलाया करते हैं, और रोगी निरोग होकर दूसरे रोगियों को उनके पास भेजा करते हैं अतः अब यह एक क्रम सा ही बन गया है। श्री भाई जी को नित्य नये रोगियों का इलाज आरम्भ करना पड़ता है। उपरोक्त महिला काफी दिन तक यह दृश्य देखती रही कि

साधारण गृहस्थ से दीखने वाले इस व्यक्ति के अन्दर क्या शक्ति है कि यह जिसको जो उपचार बता देता है, उसी से रोगी का ठीक होना आरम्भ हो जाता है। उस महिला ने इस दृश्य को लगातार कई दिनों तक देखा। वह यह समझने का प्रयत्न करती रही कि इसका रहस्य क्या है। परन्तु उसकी समझ में कुछ भी नहीं आया। अन्त में हार मानकर उसने श्री रामसजीवनसिंह जी से ही निवेदन किया कि भाई जी ! आप एक बात मुझे बतलाने की कृपा करें कि आपके पास कोई सिद्धि है या आप कोई तन्त्र जानते हैं, जिससे ऐसा उपचार करते हैं श्री रामसजीवनसिंहजी ने कहा कि न तो मैं कोई सिद्धि जानता हूं और न कोई तन्त्र जानता हूं।

उन्होंने उस महिला से ही पूछा कि आपके ऐसा पूछने का उद्देश्य क्या है। उस महिला ने उत्तर दिया कि मैं देखती हूं कि आपके पास जो रोगी आते हैं आप उन्हें बिना कुछ सोचे समझे आसन या साधन बतला देते हैं। मुझे तो महान आश्चर्य होता है यह देखकर कि आपके द्वारा बतलाये आसन या साधन को आरम्भ करते ही रोगी का ठीक होना आरम्भ हो जाता है और कुछ दिनों में वह बिल्कुल स्वस्थ एवं निरोग हो जाता है। यह देखकर मेरे मन में यह भावना बनी है कि आप अवश्य ही कोई सिद्धि या तन्त्र जानते हैं। महिला द्वारा कहे गये उपरोक्त शब्दों को सुनकर भाईजी का हृदय श्री प्रभुजी के प्रेम से ओत-प्रोत हो गया एवं कुछ क्षण तक उस महान् आनन्द का अनुभव प्राप्त कर लेने के बाद भाईजी ने उस भगवान् शङ्कर से अनन्य प्रेम रखने वाली महिला से कहना आरम्भ किया कि बहन जी बात ऐसी है कि मैं स्वयं तो कुछ नहीं हूं परन्तु मेरे पिताजी योगेश्वर हैं तथा मेरे बाबाजी सिद्धेश्वर हैं। यह कथन भी महिला की समझ में नहीं आया। अतः उसने निवेदन किया कि कृपालु आपकी बातों का अर्थ मुझे समझ में नहीं आ रहा है। समझाते हुए श्री रामसजीवनसिंह जी ने कहा कि बहनजी मेरे गुरुदेव भगवान् श्री चन्द्रमोहनजी महाराज पूर्ण सिद्ध योगिराज हैं तथा हमारे दादा गुरुदेव महाप्रभु श्री रामलालजी योगेश्वर तथा सिद्धेश्वर हैं। पूरी सृष्टि इन्हीं लोगों के संकल्प से चलती है। मेरे आराध्यदेव श्री सद्गुरुदेव भगवान् ने मुझे यह आदेश दे रखा है कि लल्ला ! तुम जिस रोगी को जो आसन या साधन बतला दोगे, वह उसी से ठीक हो जावेगा। अतः इस प्रकार रोगियों के निरोग और स्वस्थ होने में मेरा रंचमात्र भी कुछ नहीं है। यह तो उन दीन-दयालु करुणासागर की कृपा ही है कि मुझसे यह कार्य वे करा रहे हैं। भाईजी की बातों को ध्यान पूर्वक सुनने के बाद उस महिला ने भाईजी से निवेदन किया कि आपके श्री सद्गुरुदेव भगवान् एवं दादा गुरुदेव के दर्शन क्या मुझे नहीं हो सकते ?

इस बहन की बातों को सुनने के बाद भाई जी ने बताया कि श्री सद्गुरुदेव भगवान तो 'श्री सिद्धगुफा' सवाई आश्रम पर इस समय मिलेंगे एवं हमारे दादा गुरुदेवजी तो अपना लीलावसान कर चुके हैं, अब उनका स्थूल दर्शन तो बड़ा मुश्किल-सा ही है। यह बात सुनकर उस महिला के मन में यह बात आई कि क्या मैं इतनी पापात्मा हूं, जो श्रीमहाप्रभु जी का स्थूल दर्शन-लाभ भी न कर सकती ? ऐसा विचार करते-करते उसकी आँखें बन्द

हो गयीं एवं उसने देखा कि उसके सामने एक महापुरुष प्रकट हुए। यह महापुरुष उसके सामने प्रकट होकर मुस्करा रहे थे। काफी समय तक वह यह देखती रही एवं इस बीच श्रीराम-सजीवनजी रोगियों का उपचार करते रहे। कुछ देर बाद जब वह महिला अपने सहज स्वभाव में आई तो उसने भाईजी से निवेदन किया कि भाईजी! आप यह बतलाने की कृपा करें कि आपके गुरुदेव भगवान् एवं दादा गुरुदेवजी के स्वरूप दर्शन कहाँ हो सकते हैं? श्री रामसजीवनजी ने उस महिला से श्री सद्गुरुदेव भगवान् के बड़े ही कृपापात्र शिष्य श्री विनय मालवीय के घर का पता बतलाया एवं कहा कि आप वहाँ चली जायें, आपको श्री गुरुदेव भगवान् एवं दादा गुरुदेव के स्वरूप का दर्शन हो जायेगा। महिला उपरोक्त दोनों महाशक्तियों के दर्शन की अभिलाषा बड़ी ही तीव्र उत्कण्ठा लेकर हमारे आदरणीय गुरु-भाई श्री विनय मालवीयजी के निवास-स्थान पर पहुँच गई। यथोचित अभिवादन के बाद उसने अपने यहाँ आने का अभिप्राय: आदरणीय मालवीय भाई से निवेदन किया। मालवीयजी ने बड़े ही आदर के साथ श्री सद्गुरुदेवजी महाराज तथा दादा गुरुदेवजी महाराज के स्वरूपों का दर्शन कराया। वह काफी समय तक स्वरूपों को बार-बार प्रणाम करती हुई दर्शन करती रही। इसके बाद वह प्रणाम कर अपने घर चली गई।

दूसरे दिन अलुआ घाट पर स्थित पंचमुखी महादेव भगवान् के मंदिर में उसकी मुलाकात जब हमारे आदरणीय गुरुभाई श्रीरामसजीवन जी से हुई तो उसने निवेदन किया कि भाई जी! आपकी कृपा से मैंने आपके गुरुदेव भगवान् का स्वरूप दर्शन तथा दादा गुरुदेवजी को स्थूल दर्शन कर लिया है। उसकी बातें सुनकर भाईजी ने कहा कि तुम क्या कह रही हो, उल्टा तो नहीं बता रही हो? उसने कहा नहीं भाईजी, ठीक ही बतला रही हूँ। आपके आदेशानुसार मैं आदरणीय भाई श्री विनय मालवीयजी के घर पर गई थी। वहाँ उनकी धर्म पत्नीजी ने श्री गुरुदेव भगवान् एवं दादा गुरुदेवजी के स्वरूपों का बड़ा ही विधिवत् दर्शन-लाभ कराया, परन्तु इसके पूर्व ही जिस दिन मैंने आपसे निवेदन किया था, मेरे मनमें भाव आया कि गुरुजी का दर्शन तो हो ही जायगा। क्या दादा गुरुदेवजी का दर्शन-लाभ हमें नहीं हो पावेगा। जिस समय मेरे मनमें तीव्रता से यह भाव आया, मेरी दोनों आँखें स्वत: बन्द हो गयी एवं मैंने बिल्कुल स्पष्ट देखा कि सामने एक महापुरुष प्रकट होकर मन्द-मन्द मुस्करा रहे हैं। उस समय तो मुझे कुछ भी समझ में नहीं आया। समझ में तो तब आया है जब मैंने मालवीयजी के घर पर दोनों स्वरूपों का दर्शन-लाभ लिया है। उस दिन आपसे बातें करते समय मेरे सामने प्रकट होकर स्थूल दर्शन देने वाले महापुरुष और कोई नहीं आपके दादा गुरुदेव महाप्रभु श्री रामलालजी महाराज ही हैं। यह कहते हुए उस महिला का कंठ भर आया एवं उसकी आँखों से अश्रुपात होने लगा। इस घटना के बाद वह नित्य नियम से भाई श्रीरामसजीवन सिंहजी से श्री आराध्यदेव जी एवं महाप्रभु श्री रामलाल जी महाराज के चमत्कारिक यौगिक चरित्रों को श्रद्धा समन्वित मन से श्रवण करती रही। इस साल माघ-मेला में उसने श्रीचरणों में योग-दीक्षा ग्रहण की है। वे

(शेष पृष्ठ ७२ पर पढ़ें)

श्री राधातत्व

★ श्रीमती सरिता भारद्वाज एम० ए० बी० एड०

परात्परब्रह्म रस स्वरूप आनन्दकन्द श्रीकृष्णचन्द्र की आह्लादिनी शक्ति श्री राधा हैं। श्री राधा रासेश्वरी तथा रसिकों का जीवन है। आनन्दानुगत समाधि की चरम परिणति महाभाव की अवस्था में होती है। जहाँ काम की लेशमात्र गन्ध नहीं होती। विशुद्ध सत्वोदय और वैराग्यज्ञान की ज्योति जगमग-जगमग होती है। यह ज्योति-पुञ्ज ही श्री राधा है। विशुद्ध प्रेम की चरम अभिव्यक्ति ही श्री राधा है।

पातञ्जल योग-दर्शन में समाधि प्राप्ति के अनेक उपायों का उल्लेख है। यथा 'वीतराग-विषय वा चित्तम् अभिमतध्यानाद्वा' 'प्रच्छर्दन विधारणाभ्याम् प्राणस्य' 'स्वप्न ज्ञान अवलम्बनम्वा' तथा 'ईश्वर प्रणिधानाद्वा' आदि-आदि। इन उपायों में ईश्वर-प्रणिधान भावना प्रधान साधकों के लिए हृदय प्रधान साधना का मार्ग है। ईश्वर-प्रणिधान ही भक्तियोग कहलाता है। परमगुरु ईश्वर के चरणों में समस्त कामनाओं सुखों तथा शुभाशुभ कर्म-फलों को समर्पित करना ईश्वर प्रणिधान कहा गया है। ईश्वर प्रणिधान हो जाने पर भक्ति विशेष से अभिमुख किया गया ईश्वर साधक पर अनुग्रह कर उसे उसकी अभिमत वस्तु की प्राप्ति करा देता है। अभिमत वस्तु है परमानन्द, शान्ति और चित्त विश्रान्ति—जिससे जीव अपने शुद्ध-स्वरूप में अधिष्ठित होता है। इस भक्ति विशेष की प्राप्ति का उपाय गोपी भाव की उपलब्धि है। पद्मपुराण में संकेत है कि गोपीभाव के बिना अन्य किसी उपाय से भक्ति की प्राप्ति नहीं होती। 'गोपी भावेन देवेश स मामेति नेतरेण।' वस्तुतः गोपियाँ भक्ति-मार्ग की आचार्या हैं। गोपीभाव परम सात्विक निर्वासनिक दिव्य भाव है। गोपी वह है जो समस्त इन्द्रियों से दिव्यरस का पान करती है। देह और गेह की मोहासक्ति जिसमें बिल्कुल नहीं, वह भाव ही गोपीभाव है। गोपीभाव कुण्डलिनी शक्ति की मधुमती भूमिका है। गोपी कोई साधारण स्त्री नहीं है। 'गोभिः पिबति इति गोपी' सामान्य स्त्री पुरुषों की मनोवृत्ति विषयाकार होती है किन्तु गोपी वह है जिसकी मनोवृत्ति आनन्दघन श्रीकृष्ण चैतन्य के आकार में परिणत हो गई है। नारद भक्ति सूत्र में भी गोपियों को ही भक्ति का सर्व-श्रेष्ठ आदर्श माना गया है 'यथा व्रजगोपिकानाम्'। त्रिदेव-ब्रह्मा, विष्णु महेश भी जिनकी चरण-रज लेने की कामना करते हैं। श्री राधा गोपियों में सर्व-प्रधान हैं। योग की मन्त्रावलि में इसे चितिशक्ति कहा गया है। स्त्री वेश धारण करके गोपीभाव की साधना नहीं होती। गोपी न स्त्री है और न पुरुष अपितु हृदय की विशुद्ध सतोगुण की स्थिति है जिसे सांख्य शास्त्र और गीता में पराप्रकृति के नाम से अभिहित किया है।

श्री राधा ऐसा अनिर्वचनीय तत्व है जिसे समाधिस्थ योगीजन आनन्दानुगत समाधि की चरमावस्था में मधुरभाव के रूप में अनुभव कर दिव्य प्रेम के पुतले बने रहते हैं। उनकी आँखों की पुतलियाँ पलट जाती हैं। जैसे ज्ञान मार्ग के साधक को शाम्भवी मुद्रा सिद्ध हो जाती है वैसे ही मधुरभाव के साधक की वैष्णवी मुद्रा हो जाती है। यह मीरा की

तरह प्रेम का पुतला बन जाया करता है। उसे सर्वत्र सब में परम प्रेमास्पद श्रीकृष्ण की दिव्य झांकी के दर्शन होने लगते हैं। श्री सद्गुरुदेव की करुणा कृपा ही साधक की वृत्ति को ऊर्ध्वगामिनी तथा अन्तर्मुखी बना देती है। जब श्रीकृष्णचन्द्र रूपी सद्गुरु बहिर्मुखी वृत्तियों को अपनी वंशी की ध्वनि से आकर्षित कर अन्तर्मुखी बना देते हैं तभी उनका श्रीकृष्ण नाम 'कर्षणात् वा कृषणात् कृष्णः' अर्थात्—आकर्षण करने तथा हृदयभूमि को जोतने के कारण—सार्थक हो जाता है। जब वृत्ति अन्तर्मुखी हो जाती है तो राधा 'कुण्डलिनी' नृत्य करने लगती है और दिव्यरस का आनन्द समस्त जीवन के व्यापारों को निमज्जित कर देता है। तन-मन की सुध-बुध नहीं रहती। योग सिद्ध भक्त प्रवर कबीर ने श्री राधा तत्व का संकेत बीजक में इस प्रकार किया है—

कबिरा धारा अगम की, सतगुरु दई लखाइ,
उलटि ताहि सुमिरन करो स्वामी संग लगाइ।

वास्तव में श्री सद्गुरु की कृपा से शक्तिपात होने पर 'हंस' वृत्ति उल्टी होकर 'सोऽहम्' के रूप में प्रकट होने लगती है।

(पृष्ठ ७० का शेष)

अकारण दयालु करुणासागर श्रीप्रभुजी केवल अपने दीक्षित बच्चों पर ही नहीं वरन् सब पर कृपा-वर्षा किया करते हैं, तभी तो किसी साधक ने लिखा है कि—वे सब पर करुणा करते हैं, केवल शिष्यों पर ही नहीं।

उपरोक्त घटना को आदरणीय गुरु-भाई श्री रामसजीवन जी ने हमें बतलाने की कृपा की, अतः उन्हें भी बार-बार साधुवाद समर्पित है। 卐

साधक अजपा-जप के अभ्यास से उसे सहज गम्य बनाने का अभ्यास करता है। यही उन्मनी अवस्था या अमनस्क योग भी राधा-तत्व की साधना है। जब साधक विशोका नामक ज्योतिष्मती प्रवृत्ति की भूमिका में पहुंच कर सर्वज्ञातृत्व और सर्वकर्तृत्व की सामर्थ्य को प्राप्त कर इच्छा-शक्ति के द्वारा जो-जो इच्छा करता है उसको प्राप्त कर लेता है। यह प्रवृत्ति संस्कार-चक्र को जन्म देने वाली होती है। जब साधक के जीवन में पूर्ण निष्कामता (इच्छा और विचार का अभाव) आती है तभी वह पूर्णरूपेण अन्तर्मुखी हो पाता है। अन्तर्मुखी होकर साधक अपनी समस्त कामनाओं को परमगुरु श्रीप्रभु के चरणों में समर्पित कर देता है। पूर्ण समर्पण होने पर प्रभु की इच्छा के आधीन होने पर गीता में वर्णित—'मन्मना भव' 'मयि बुद्धि निवेशय' 'निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशय'—इत्यादि सूत्र वाक्य फलित हो जाते हैं। जिस प्रकार कठपुतली नट के इशारे से नृत्य करती है, उसी प्रकार जिसको अपनी कोई इच्छा नहीं रहती, वह प्रभु के संकेत पर आनन्द में नाचने लगता है। उस स्थिति को ही गोस्वामी तुलसी ने, 'जिसे न चाहिय कबहुँ कछु, तुम सन सहज सनेह' ऐसा कहा है—यही प्रभु-प्रेम की सहज धारा प्रकट होती है। प्रभु-प्रेम की सहज धारा राधा तत्व है। यह विशुद्ध प्रेम कामना रहित, वासना रहित निर्वैयक्तिक प्रतिक्षण वर्द्धमान अनिर्वचनीय होता है। समस्त इच्छाओं के समर्पण से आह्लादिनी परमानन्द रूपी दिव्य चेतना का उदय होता है, यही आह्लादिनी शक्ति श्री राधा है। जब तक साधक में अपनी इच्छा हो तब तक आह्लादिनी शक्ति का आविर्भाव

नहीं होता है। बिल्ली का बच्चा जिस प्रकार माँ के प्रति पूर्णरूपेण समर्पित रहता है, बिल्ली अपने दाँतों से उठाकर जहाँ ले जाना चाहती है ले जाती है। बिल्ली के बच्चे की स्वतन्त्र इच्छा शक्ति वहाँ नहीं होती। साधक भी भक्ति की उसी पराकाष्ठा पर पहुँचकर अपने आराध्य के सुख में अपना सुख अनुभव करता है—अपने लिए कुछ नहीं चाहता। उसकी अपनी इच्छा शक्ति की निवृत्ति हो जाती है। इच्छा से विरक्त हो जाने चित्त की समस्त वृत्तियाँ उर्ध्वोन्मुख हो जाती हैं। योगी आनन्दानुगत समाधि में महाशक्ति की गोद में विश्राम करते हुए आनन्दस्वरूप अमृत का पान करता है। आनन्द के बाद हेयोपादेय दोनों की साम्य स्थिति हो जाती है। इसके आगे चितिशक्ति का साम्राज्य माना गया। यहाँ प्रकृति की साम्यावस्था प्रधान होती है। पूर्ण चैतन्य का साम्राज्य यहाँ से प्रारम्भ होता है। योगी लोग इसे अस्मितानुगत समाधि कहते हैं। यहाँ शिव शक्ति या श्री राधा-कृष्ण का अभेदानुगत स्वात्म चैतन्य में होता है। योगी इस साम्राज्य में पहुँच कर प्रकृति पर हुकूमत करने लगता है। उसमें स्वातन्त्र्य का उदय होता है। जैसा कि शिवः सूत्र में उल्लेख है—इच्छाशक्ति उमा कुमारी (१/१३) तथा सिद्धः स्वतन्त्रभावः (३/१३)।

ईश्वर का स्वरूप सच्चिदानन्द है। उसने अपने आनन्दस्वरूप का स्वयं आस्वादन करने के लिए प्रेम और आह्लाद की साकार मूर्ति श्री राधा का प्राकट्य किया। श्री राधा प्रेम-रस की विग्रह हैं। योगीजन उनका ध्यान करके परम दिव्य प्रेम के रस में निमज्जित हो जाते हैं। श्री गुरुदेव ने एक बार आदरणीय ब्रह्मचारी श्री गोपालानन्दजी (श्रीगुरुदेव के गुरु-भाई) का उपाख्यान सुनाया था। श्री वृन्दावन-धाम में आनन्दकन्द श्री प्रभुजी के साथ ब्रह्मचारी एवं अन्यान्य भक्तगण थे। वहाँ किसी गोस्वामी ने श्री राधा-कृष्ण की प्रेम-माधुरी के पद की पहली पंक्ति ही गाई थी कि उसे सुनते ही श्री ब्रह्मचारीजी महाभाव की समाधि में चले गये। श्री प्रभुजी ने उन गोस्वामी महाशय से गम्भीर मुद्रा में कहा—तुमने मेरे बच्चे को क्या कर दिया? जल्दी बोलो! गोस्वामीजी घबराकर विनयपूर्वक कहने लगे—नाथ! सच कहता हूँ, मैंने कुछ नहीं किया! उसे घबराया जानकर श्री प्रभुजी स्मित हास्य करके बोले—बेटा! तुम्हारा कोई दोष नहीं है। हमारा बच्चा श्री राधा-कृष्ण के प्रेम के प्रवाह को सहन नहीं कर पाया अतः वह महाभाव में समाधिस्थ हो गया है। इसे तपती बालू में यमुना तट पर पड़ा रहने दो। दो दिन बाद इसकी समाधि खुलेगी। श्री राधा के प्रेम की इतनी विशालता है। वे स्वयं महाभाव स्वरूपा हैं। अनन्त सौन्दर्य अनन्त लावण्य, अनन्त माधुर्य और अपरिमित ऐश्वर्य है इस आह्लादिनी शक्ति में। साधक को राह दिखाने और श्रीकृष्ण प्रेम का पात्र बनाने की कृपा करने के कारण भक्तगण उन्हें राह दे, राह दे अर्थात् राधे-राधे कहते हैं।

उस दिव्य आनन्दमयी प्रेम की उच्च स्थिति को मध्ययुगीन कवियों ने कामना और वासना के रंग से रंगकर साधारण स्वकीया-परकीयानायिका के रूप में चित्रित कर उपासना तत्व से नीचे मांसल धरातल पर इन्द्रिय संवेदना का विषय बना डाला। इस प्रकार शृंगारी कवियों ने वासना की कीचड़ उछालकर आद्या शक्ति श्री राधा और परम-

पुरुषोत्तम श्रीकृष्ण के स्वरूप को विकृत कर दिया। इसका परिणाम यह हुआ कि जहाँ श्री राधाकृष्ण का स्वरूप ध्यान-योग द्वारा साधक के जीवन को अलौकिक आनन्द की उपलब्धि देता था वहाँ वह कुत्सित शृंगारी चरित्र बनने के कारण समाज को भोग-विलास के दलदल में फँसा देने वाला सिद्ध हुआ। परवर्ती विचारक एवं कविगण उस महाभाव को एक प्रकार से भूल ही गये जो रति, प्रेम, प्रणय, मान, स्नेह, राग, अनुराग तथा भाव से उत्तरोत्तर विकसित होकर पूर्ण आत्म-समर्पण के द्वारा 'आह्लादरूप महाभाव' के रूप में परिणत होता है। श्री राधा-तत्त्व योगयुक्त, नित्ययुक्त वह अवस्था है जिसमें एक क्षण को भी अपने इष्ट से योगी का वियोग नहीं होता। प्राणों में, रोम-रोम में और स्मृति में प्रियतम के अतिरिक्त कुछ और होता ही नहीं। यह अवस्था तब आती है जब साधक का मन कामना और वासना रहित होकर त्याग और समर्पण से अहङ्कार शून्य प्रेम द्वारा पूर्ण आनन्दमय बन जाता है। वैष्णवाचार्यों ने भगवान के स्वरूपानन्द को 'आह्लादिनी शक्ति' कहा है। श्रीमद्भगवद्गीता में 'पराभक्ति' के नाम से इसे कहा गया है:—

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति।
समः सर्वभूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्॥

जहाँ कोई कामना या दुःख नहीं है केवल व्यापक आनन्द के साथ एकरसता है वहाँ पराभक्ति का प्रकाश होता है पराभक्ति में ही महाभाव प्रकट होता है। महाभाव में चिद्‌घन श्रीकृष्ण के आनन्द का अनुभव होता है। भक्त-सम्प्रदाय की मान्यता है कि राधा नित्य रास में आती है और नित्य श्रीकृष्ण के साथ रास करती है। रास का अर्थ है रसों का समूह अर्थात् जहाँ रसों का उत्तमशिखर हो वह मधुरलीला रास कहलाती है। इसमें ज्ञान कर्मादि संस्पर्श शून्यता है। ज्ञान होते हुए भी ज्ञान का अभिमान नहीं होता कर्म निरत रहते हुए भी कर्मफल का बन्धन नहीं है। यहाँ संयोग में वियोग और वियोग में संयोग है। अपने सुख की चाह की अपेक्षा अपने प्रियतम के सुख की चाह ही प्रमुख है। श्री देवी भागवत् में श्री राधा की स्तुति इन्हीं विशेषणों से युक्त शब्दों से की गई है—

नमस्ते परमेशानि रासमण्डल वासिनि।
रासेश्वरि नमस्तेऽस्तु कृष्णप्राणाधिकप्रिये॥
नमः सरस्वतीरूपे नमः सावित्रि शंकरि।
× × × ×
मूल प्रकृति रूपां त्वां भजामः करुणार्णवाम्॥

श्री राधा सरस्वती, पार्वती, श्री सीता तथा श्री लक्ष्मी एवं महाकाली के स्वरूप में है। ये ही परब्रह्म की मूल प्रकृति हैं। प्रकृति का साक्षात्कार किये बिना जो साधक पुरुष का साक्षात्कार करना चाहता है उसके मार्ग में प्रकृति बाधा डालती है। अष्टविध प्रकृति का साक्षात्कार कर आत्म-तत्त्व का साक्षात्कार निरापद होता है। जैसाकि श्रीमद्‌गीता में कहा गया है—

इन्द्रियाणि पराण्याहुः इन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिः यो बुद्धेः परतस्तु सः॥

पंचभूत, एकादश इन्द्रियाँ, पञ्चतन्मात्रायें और मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार—यही है प्रकृति। प्रकृति से परे शुद्ध चेतन आत्म-तत्त्व है। विशुद्ध चेतन आत्म-तत्त्व ही श्रीकृष्ण है।

और परा प्रकृति श्री राधा हैं। श्रीकृष्ण और श्रीराधा में अभेद सम्बन्ध है। अग्नि और उसकी ऊष्मा दो वस्तुएं नहीं हैं। उसी तरह श्रीकृष्ण और उनकी शक्ति में ऐक्य सम्बन्ध है। श्री राधा का साक्षात्कार भाव-राज्य के वे साधक कर पाते हैं जो भोग और मोक्ष दोनों की चाह नहीं रखते। जहाँ कोई चाह नहीं रहती, वहीं विशुद्ध प्रेम का उदय होता है, वहीं महाभाव के दर्शन होते हैं। इसलिए प्रेमी भक्तों के सम्बन्ध में सन्त तुलसीदास कहते हैं—'मुक्ति निरादर भक्ति लुभाने।'

स्कन्द पुराण में श्रीराधा भगवान् श्रीकृष्ण की आत्मा मानी गई है। इनके साथ नित्य रमण करने के कारण प्रेमास्पद भक्त भगवान् को आत्माराम कहा करते हैं—

आत्मा तु राधिका यस्य तयैव रमणाद सौ।
आत्माराम इति प्रोक्तो मुनिभिः गूढवेदिभिः॥

भाव-राज्य में प्रवेश किये बिना भगवान का अनुग्रह नहीं होता। गीता में भगवान् संकेत कर देते हैं कि तत्व-ज्ञानी मुझे यथार्थ रूप से जान कर मुझमें प्रवेश कर जाता है। ज्ञान होने पर भी जब तक रागानुगा प्रेमा-भक्ति का आविर्भाव नहीं होता, तब तक भगवदानन्द से साधक अछूता रह जाता है। आनन्द परम प्रेम का स्वरूप है। यह भावना का साम्राज्य है, इसमें निष्काम साधक ही प्रवेश पा सकता है। 'ईश्वर प्रणिधान' की साधना ही इस भाव-राज्य में प्रवेश का मुख्य उपाय है। अपने सर्वस्व इष्ट के चरणों में समर्पित करके कुछ न चाहना केवल समर्पण! समर्पण!! और कुछ नहीं। अपने को मिटाने की हिम्मत हर एक में नहीं हो सकती। इस-लिए हर साधक भाव-राज्य में प्रवेश नहीं पा सकता। भगवद् भाव-राज्य को गीता में 'मद्भाव' के नाम से कहा गया है—'मद्भक्त एतद् विज्ञाय मद्भावाय उपपद्यते।' (१३/१८) तथा 'बहवो ज्ञान तपसा पूता मद्भाव-मागताः।' (४/१०)

उपासना मार्ग के सन्त और योगीजन हृदय-चक्र में श्रीराधा रूप की माधुर्य भावना करते हुए ॐ ह्रीं 'श्रीराधायै नमः'। इस अष्टाक्षर मन्त्र का जप करते हैं। यह श्री राधा का कामना सिद्धचर्य चिन्तामणि मन्त्र माना जाता है। इसके प्रभाव से भगवान् श्रीकृष्ण की भक्ति और उनकी कृपा का साधक अधिकारी बनता है। श्रीदेवी भागवत् में (९/५०) श्रीराधा का निर्वचन करते हुए कहा गया है कि सभी कामनाओं को पूर्ण करने के कारण श्रीकृष्ण की प्राणप्रिया को श्रीराधा नाम दिया गया है।

राध्नोति सकलान् कामान् तस्माद् राधेति कीर्तिता।

इसी प्रकार श्रीमद्भगवद्गीता की आध्या-त्मिक व्याख्या करते हुए योगिराज श्री श्यामाचरण लाहिड़ी महाशय का कथन भी ध्यातव्य है। दशम अध्याय के नवम श्लोक (मच्चित्ता मद्गत प्राणा……) की व्याख्या में योगिराज लाहिड़ीजी कहते हैं—'वैष्णवों की श्रीराधिका कुण्डलिनी शक्ति ही है। राधिका होती है कृष्ण का प्रथम विकार। यही गीता की अपरा-प्रकृति और तन्त्र की महाप्रकृति है। श्रीकृष्ण की उपासना में काम बीज या काम गायत्री की उपासना है। यह कुण्डलिनी शक्ति काम-कला-स्वरूपिणी है। परमात्मा कृष्ण को पाने के लिए वैष्णव लोग

(शेष पृष्ठ ७७ पर पढ़िए)

प्राणायाम का तन तथा मन पर प्रभाव

★ ★ ● ● श्री गौतम श्रीमाली ● ● ✶ ★

प्राणायाम शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है, प्राण तथा आयाम। प्राण शब्द से सामान्यतया प्राण, अपान, समान, व्यान तथा उदान इन पंच-प्राणों को लिया जाता है तथा आयाम शब्द का शाब्दिक अर्थ है, विस्तार। अर्थात् प्राणायाम शब्द का शाब्दिक अर्थ हुआ पंच-प्राणों का विस्तार अथवा उनका सुचारु प्रयोग। यह तो सर्व विदित है कि पंच-प्राणों के समुचित रीति से कार्य करने से शरीर में बल, बुद्धि, तेज तथा आरोग्य का संचार होता है। इन पंच-प्राणों को एकीकृत करके मात्र प्राण को ही प्रधान मान लिया गया है तथा प्राण कहने से अन्य चारों को ग्रहण भी मान लिया गया है।

इन पाँचों प्राणोंका स्थान तथा कार्य भी शरीर में निश्चित है। प्राण नासिका से हृदय तक व्याप्त रहता है तथा हृदय के क्षेत्र की व्यवस्था करता है, जैसे खून की सफाई, श्वास आदि। अपान नाभि से लेकर पादतल तक रहता है तथा मल-विसर्जन आदि का कार्य सम्हालता है। समान हृदय से लेकर नाभि-पर्यन्त रहता है और भोजन का पाचन तथा शक्ति-प्रेषण करता है। व्यान पूरे शरीर में व्याप्त रहता है और सब अंगों का सञ्चालन करता है। उदान नासिका से सिर तक व्याप्त रहता है और शरीर को ऊपर उठाये रखने का कार्य करता है। इन सबमें प्राण श्रेष्ठ है। यद्यपि ये पाँचों प्राण अलग-अलग न होकर एक ही हैं, किन्तु इनके स्थान तथा कार्य के अनुसार ही इन्हें पाँच भागों में बाँटा गया है तथा अलग-अलग नामों से पुकारा गया है।

इन पञ्च प्राणों के सहयोग से शरीर में एक शक्ति का उदय होता है जिसे जीवनी-शक्ति के नाम से जाना जाता है। यह जीवनीशक्ति ही शरीर में रोग-प्रतिरोधक शक्ति उत्पन्न करती है तथा शरीर की बीमारियों, ऋतु परिवर्तन से होने वाले विकारों तथा अन्य घातक तत्वों से रक्षा करती है। यही कारण है कि शरीर के रुग्ण हो जाने पर औषधि तभी तक कार्य करती है जब तक जीवनीशक्ति सक्रिय रहती है। उसके क्षीण हो जाने पर औषधि भी अपना प्रभाव शरीर पर नहीं जमा पाती, फलतः व्यक्ति की मृत्यु हो जाती है। यही शक्ति शरीर में बल, बुद्धि तेज तथा आरोग्य को उत्पन्न करती है। यह जीवनीशक्ति ही शरीर का सर्वस्व है।

पञ्चप्राणों के इस वर्णन से यह नहीं समझ लेना चाहिये कि प्राणायाम से इन पर अलग-अलग अधिकार किया जाता है। वस्तुतः इन सब पर अधिकार करने के लिये शरीर में एक ऐसा केन्द्र है जो इन सब पर नियन्त्रण करता है। महर्षि पतञ्जलि ने उस एक केन्द्र का वर्णन करने के लिये ही प्राणायाम शब्द को एक पारिभाषिक शब्द के रूप में प्रयोग किया है। उनके अनुसार—'श्वास-प्रश्वास की गति का अवरोध ही प्राणायाम है।' अर्थात्—सामान्य भाषा में इसे कहें तो 'श्वास-प्रश्वास को रोक देना ही प्राणायाम है।' इससे यह सिद्ध हो गया कि श्वास-प्रश्वास एक ऐसा केन्द्र है जिसके अवरुद्ध हो जाने से ये पञ्चप्राण अत्यधिक सक्रिय हो उठते हैं और जीवनीशक्ति प्रबल होकर अपना कार्य तीव्र-

शक्ति से करने लगती है।

यह एक वैज्ञानिक तथ्य है कि जब हम श्वास लेते हैं तो शरीर में आक्सीजन प्रवेश करती है और जब श्वास छोड़ते हैं तो कार्बन डाई आक्साइड बाहर निकलती है। इससे यह सिद्ध होता है कि आक्सीजन फेफड़े में पहुँचते ही कार्बन-डाई-आक्साइड में बदल जाती है। इससे यह भी ज्ञात हो गया कि जब श्वास रुक जाती है तो फेफड़े में कार्बन-डाई-आक्साइड ही रुकी रहती है। अब यहाँ यह प्रश्न खड़ा हो जाता है कि आक्सीजन यदि रुके तो उससे शक्ति मिलती है, यह तो समझ में आता है, किन्तु जब कार्बन-डाई-आक्साइड को अन्दर रोक दें तो उससे शक्ति किस प्रकार मिलेगी। वस्तुतः जब श्वास रुक जाती है तो कार्बन-डाई-आक्साइड ही शरीर के अन्य प्राणों में हलचल उत्पन्न कर देती है जिससे अन्य प्राण सक्रिय हो जाते हैं।

श्वास के रुक जाने पर दूसरा परिवर्तन यह होता है कि प्राण केन्द्रीभूत हो जाते हैं अतः उनका प्रयोग किसी एक अंग को अत्यधिक बलवान् बनाने के काम आता है। जैसे कोई भारी चीज उठाते समय श्वास अपने आप अन्दर रुक जाता है और एक हाथ में अत्यधिक शक्ति आ जाती है। यह शक्ति जितनी क्षमता रखती है उतनी मात्रा में हम भार उठा सकते हैं। इस क्षमता में वृद्धि भी की जा सकती है जो अभ्यास पर निर्भर होती है।

शरीर में तीसरा परिवर्तन यह होता है कि जीवनी-शक्ति प्रबल हो जाती है और वह सारे शरीर में व्याप्त होकर उसे अत्यन्त बलवान् बनाने का कार्य शुरू कर देती है।

अब तक यह स्पष्ट हो चुका है कि प्राण के रुक जाने के पश्चात् ही अन्दर का कार्य प्रारम्भ होता है। जब तक श्वास-प्रश्वास चलता रहता है, तब तक शरीर में सामान्य क्रियाएँ ही होती रहती हैं जो कि शरीर के लिए आवश्यक हैं। प्राणायाम से शरीर के अंगों पर क्या प्रभाव पड़ता है। अब हम उस पर विचार करेंगे।

तन पर प्रभाव

फेफड़े में सांस रुक जाने से सबसे पहला प्रभाव फेफड़े पर पड़ता है, इससे फेफड़े के छोटे-छोटे छेद भी सक्रिय हो उठते हैं। उनमें श्वास भर जाती है। सामान्यतया ये छिद्र बन्द रहते हैं, क्योंकि फेफड़े का ऊपरी हिस्सा ही श्वास-प्रश्वास के समय काम करता है। प्राणायाम के समय पूरा फेफड़ा कार्यरत हो जाता है, जिससे उसके छिद्रों में वायु भर जाने से उसके दोष दूर हो जाते हैं और वह बलवान् हो जाता है।

दूसरा प्रभाव हृदय पर पड़ता है। हृदय की गति उस समय क्षीण हो जाती है, उसे थोड़ी देर के लिए विश्राम मिल जाता है। रक्त के शोधन तथा परिभ्रमण की क्रिया भी तीव्र हो जाती है, जिससे जल-नाड़ियों का

(शेष पृष्ठ ७४ का)

राधिका का आश्रय लेने के लिए चाहते हैं। राधिका ही शक्ति साधक की माँ भगवती है जो समस्त जगत् का मूल कारण है। तुरीय ब्रह्म से सम्पृक्त मूल प्रकृति ही आद्या काली के नाम से अभिहित होती है। इसीलिए देखने में आता है कि गोपियों ने कृष्ण को पाने के लिए भगवती की उपासना की थी। राधा कलिन्दजी व्रजवल्लभा तथा कृष्ण का अनुग्रह प्रदान कराने वाली कुल कुण्डली ही है।

कचड़ा दूर होकर शुद्ध रक्त शरीर में प्रवाहित होता है।

तीसरा प्रभाव अन्य प्राणों पर पड़ता है, जिससे उनसे सम्बन्धित अंग प्रभावित होते हैं और वे सुचारु रूप से कार्य करने लगते हैं। जैसे—पाचन-तंत्र, मलविसर्जन तंत्र आदि।

संक्षेप में यदि कहें तो प्राणायाम का प्रभाव शरीर के विभिन्न अंगों पर तो पड़ता ही है। साथ ही पञ्च-प्राणों पर भी पड़ता है, जिससे उनका कार्य ठीक हो जाता है और साथ ही जीवनी-शक्ति प्रबल हो उठती है, जिससे शरीर पूर्ण स्वस्थ तथा शक्तिशाली हो जाता है। यही कारण है कि प्राणायाम करने से मनुष्य दीर्घजीवी हो जाता है।

मन पर प्रभाव

प्राणों के केन्द्रित हो जाने से उनमें एक वेग आ जाता है तथा वे किसी एक अंग को प्रभावित करने की क्षमता रखने लगते हैं, इससे मस्तिष्क पर भी प्रभाव पड़ता है। प्राणों की सारी शक्ति जब मस्तिष्क में एकत्र हो जाती है तो वह बलवान् हो जाता है। उसकी चञ्चलता नष्ट हो जाती है। उसमें एकाग्रता आ जाती है तथा राग-द्वेष आदि का कूड़ा-कचड़ा जलकर उसकी जगह परम सात्विकता भर जाती है, जिससे मन शुद्ध विचारों वाला हो जाता है। इससे अज्ञानता का पर्दा नष्ट होकर ज्ञान का प्रकाश प्रदीप्त होता है। वस्तुतः एकाग्रता आ जाने से ही मन के समस्त दोष दूर होने लगते हैं। यही एकाग्रता समाधि में सहायक होती है।

प्राणायाम के प्रकार

यद्यपि प्राणायामों के प्रकारों की संख्या बहुत अधिक है जो कि हमें योग के विभिन्न ग्रन्थों में उपलब्ध होती है, किन्तु वे सबकी सब मात्र तीन क्रियाओं पर ही आधारित हैं—रेचक, पूरक तथा कुम्भक। रेचक का तात्पर्य श्वास को बाहर निकालना। पूरक का तात्पर्य अन्दर लेना तथा कुम्भक का तात्पर्य है रोकना। प्राणों को रोकने की जो क्रिया है वह दो प्रकार की है-एक तो प्राणों को बाहर फेंककर बाहर ही रोक देना तथा दूसरी क्रिया है श्वास अन्दर लेकर उसे अन्दर रोक लेना। ये क्रियाएँ बहुत कठिन नहीं हैं। इन्हें थोड़े से अभ्यास से साधा जा सकता है किन्तु किसी से सुनकर अथवा पुस्तक में पढ़कर या अपने मनमाने ढंग से प्राणायाम की क्रियाएँ कभी नहीं करनी चाहिए। यह एक क्रियात्मक पद्धति है, जो किसी विशेषज्ञ से ही सीखनी चाहिए। यह क्रिया ऐसी है जो लाभ तो पहुँचाती है, किन्तु भूल हो जाने पर असाध्य रोग भी उत्पन्न करती है जो डाक्टरों से भी दूर नहीं होते।

यह तो प्रत्यक्ष है कि श्वास के अन्दर रुक जाने से शरीर के अङ्गों में शक्ति आती है, किन्तु उससे मन की चंचलता नहीं रुकती, उसके लिए महर्षि पतञ्जलिजी ने रेचक प्राणायाम बताया है। रेचक प्राणायाम से मस्तिष्क के तनावयुक्त तन्तु शिथिल हो जाते हैं जिससे विश्राम भी मिलता है, मस्तिष्क ठण्डा रहता है और उसकी चञ्चलता भी नष्ट हो जाती है। वह इधर-उधर भागता नहीं। इससे कामाग्नि भी शिथिल पड़ जाती है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि रेचक प्राणायाम से मन तथा मस्तिष्क के समस्त दोष दूर हो जाते हैं तथा वह चंचलता एवं विषय-लोलुपता का त्यागकर एकाग्र बन जाता है और समाधि की क्षमता प्राप्त कर लेता है।

आज के इस तनाव भरे वातावरण में जहाँ मनुष्य प्रतिपल अपनी जीविका तथा जीने के लिए संघर्ष करता रहता है, वहाँ निराशा, क्षोभ, तनाव, चिन्ता, रोग, दुःख तथा अशान्ति उसके सामने मुँह बाये खड़े रहते हैं और उसके जीने का उत्साह भंग करते रहते हैं। इससे मनुष्य यही समझने लगता है कि जीवन एक दुःख का सागर है, जिसके पार जाना असंभव है। वह एक भारभूत जीवन जीता है। उसके जीवन में कभी प्रसन्नता, बहार और स्वतन्त्रता नहीं आती। यदि हर व्यक्ति मात्र आधा घंटा प्राणायाम के लिए समर्पित कर दे तो वह अपने इन शत्रुओं से बच सकता है और दीर्घ-जीवी बन कर आनन्द, सुख तथा आरोग्य का लाभ उठा सकता है।

प्राणायाम से व्यायाम की भी समस्या हल हो जाती है। प्राणायाम स्वयं में एक बहुत बड़ा व्यायाम है अतः अलग से व्यायाम करने की आवश्यकता नहीं रह जाती। व्यायाम करने से जो लाभ शरीर को मिलता है, उससे कहीं अधिक लाभ प्राणायाम से मिलता है। सबसे बड़ी बात तो यह है कि प्राणायाम का प्रभाव तन तथा मन दोनों पर पड़ता है, जबकि व्यायाम का प्रभाव मात्र तन पर पड़ता है। मन उससे अछूता रह जाता है। प्राणायाम को तप भी कहा गया है। इसका तात्पर्य यह है कि तप करने में शरीर तथा मन को संयमित करने के लिए जो दुःख उठाना पड़ता है, वही कष्ट प्राणायाम को साधने में भी होता है, क्योंकि इस क्रिया के करने में धैर्य, परिश्रम, संयम, नियमितता तथा श्रद्धा की आवश्यकता पड़ती है। इसीलिए यह समस्त तपों में श्रेष्ठ है। समस्त व्यायामों में श्रेष्ठ है तथा हजारों धर्म-काण्डों से भी श्रेष्ठ है। इसका आधे घंटे का अभ्यास तन तथा मन के समस्त पापों का विनाश करके प्रसन्नता तथा सुख प्रदान करता है। योगपथ के पथिक के लिए प्राणायाम से बढ़कर कोई क्रिया नहीं है। जो उसे शरीर से ऊपर उठाकर आत्मा के लोक तक पहुँचा दे तथा उसे शाश्वत शान्ति, आनन्द तथा सुख प्रदान कर सके।

घनाक्षरी

आपको प्रणाम है, प्रणाम है

★ श्री रामप्रकाश 'अनुरागी'

श्री गणेश गौरी सुत गणपति गजानन,
विघ्ननि निवारिबो तो आपको ही काम है।
ध्यान ही धरे ते जाके मंगल ही मंगल होय,
लेवो जो प्रथम पूज्य आपको ही नाम है।
षडानन अग्रज महाकाल शिव के सपूत आप,
आपकी ही गोद ऋद्धि-सिद्धियों का धाम है।
एक दन्त दयावंत ज्ञानी गुणखानी देव,
वन्दनीय आपको प्रणाम है, प्रणाम है।

योग एवं 'सिद्धयोग'

★ आचार्य श्री दासलाल शर्मा

यह निर्विवाद सत्य है कि 'ऋते ज्ञानान्मुक्ति।' अर्थात्—ज्ञान के बिना मुक्ति नहीं मिलती है। कैसे ज्ञान प्राप्त हो इसके लिए कहा गया है कि 'योगात् सम्प्रजायते ज्ञानम्' योग से ही ज्ञान की प्राप्ति होती है। इसलिये योग ही आत्म-ज्ञान का एक मात्र उपाय है। 'योगात् परतरो नास्ति मार्गस्तु मोक्षदः।' योग ही मुक्ति दायक है। यह योग दो उपायों से सम्पादित होता है पहला है साधन योग तथा दूसरा 'सिद्धयोग'।

साधन योग या क्रिया योग उपाय प्रत्यय वाले योगियों के लिए साध्य होता है। क्रिया योग को ही साधन योग कहते हैं। "तपः स्वाध्याय ईश्वर प्रणिधानानि क्रियायोगः" तप, स्वाध्याय व ईश्वर प्रणिधान को क्रिया-योग कहा गया है यह साधन पाद का प्रारम्भिक सूत्र है। भाष्यकार भगवान वेद व्यास ने इसका स्पष्टीकरण किया है। इसमें सर्दी, भूख, प्यास आदि द्वन्द्वों को सहन करना तप कहा गया है। 'नातपस्विनो योगः सिद्ध्यति' के नियमानुसार जो तपस्वी नहीं है उसे योग सिद्ध नहीं होता है। तप का फल योग-दर्शन में बताया गया है 'कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्तपसः' अर्थात्—तप के द्वारा अन्तःकरण व इन्द्रियों की अशुद्धि के नाश हो जाने पर योगी को कायिक (काय सिद्धि वज्र काय) आदि तथा ऐन्द्रिय सिद्धि दूर-दर्शन दूर-श्रवण आदि सिद्धियाँ योगी को प्राप्त हो जाती है। 'प्रणवादि पवित्राणां जपः स्वाध्यायः मोक्षशास्त्राणां अध्ययनम् वा स्वाध्यायः' । के अनुसार ओंकार आदि नामों का जाप तथा मुक्ति-प्रदाता शास्त्रों का अध्ययन स्वाध्याय कहा गया है। प्रणवादि कहने से भगवान के सभी नामों का भी ग्रहण हो जाता है। ईश्वर प्रणिधान का तात्पर्य है सम्पूर्ण कर्मों व कर्म-फल को ईश्वर अर्पण करना। इसके साथ-साथ 'श्रद्धावीर्य स्मृतिसमाधि प्रज्ञा पूर्वकमितरेषाम्' के अनुसार श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा का होना साधक के लिए बहुत ही आवश्यक है। 'श्रद्धा चेतसः सम्प्रसादः। सा जननीव कल्याणी योगिनम् पाति।' श्रद्धा योगी की माँ की तरह रक्षा करती है। श्रद्धालु व्यक्ति को उत्साह उत्पन्न होता है। उत्साही व्यक्ति को ही स्मृति कायम रहती है। स्मृति के उदय होने पर प्रज्ञा-विवेक उत्पन्न होता है जिससे प्रकृति पुरुष का अलगता ज्ञान अलग-अलग होता है।

योगियों का एक ही उद्देश्य होता है कि वे क्लेशों की निवृत्ति पाकर कैवल्य पद को प्राप्त करें। विवेक-ख्याति को पाकर 'ततः क्लेश कर्म निवृत्ति' के सिद्धान्तानुसार क्लेश जन्य कर्म व कर्म वासनाओं का बीज दग्ध भाव को प्राप्त हो जाता है। क्लेशों का नाश हो जाने पर 'सत्वपुरुषयोः शुद्धि साम्ये कैवल्यम्' अर्थात्—प्रकृति (बुद्धि तथा पुरुष के शुद्धि साम्य होने पर अर्थात्—बुद्धि अपने कारण अव्यक्त में लीन हो जाये तथा पुरुष बौद्धिक ज्ञान से रहित होकर अपने स्वरूप में अवस्थित हो जाये तब योगी को कैवल्यावस्था की प्राप्ति हो जाती है। हृदय ग्रन्थि या चिज्जड़ ग्रन्थि का भेदन हो चुकने पर जन्म-मरण का चक्कर निश्चित् रूप से समाप्त हो जाता है।

भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥

उस परावर परमात्मा के साक्षात्कार हो जाने पर हृदय ग्रन्थि टूट जाती है सब संशयों का नाश हो जाता है। योगी के सम्पूर्ण कर्म नष्ट हो जाते हैं। साधन योग में लक्ष्य की प्राप्ति साधन के संवेग तथा अभ्यास वैराग्य पर आधारित है।

योग की प्राप्ति का दूसरा उपाय है 'सिद्धयोग' वास्तव में किसी सिद्धयोगी की अनुकम्पा जब तक नहीं होती है तब तक साधक के लिए लक्ष्य प्राप्ति अत्यन्त ही दुष्कर है। महान पुरुष को पाकर ही साधक महानता को प्राप्त कर सकता है। वास्तव में यह योग विद्या 'सिद्धयोग' परम्परा से ही अनवरत-गंगा-धारावत् प्रवाहित हो रही है। योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता के चतुर्थ अध्याय में 'इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्' कहकर 'सिद्धयोग' परम्परा का संकेत दिया है। कोटि जन्मों के तप, स्वाध्याय तथा समाधि के फलस्वरूप साधक को पूर्ण सद्गुरु मिलते हैं। उपनिषदों में आया है—

ततः सिद्धस्य कृपया योगी भवति नान्यथा ।
ततो नश्यति संसारो नान्यथा शिवभाषितम् ॥

अनेक जन्मों के सुकृतों के फलस्वरूप सद्गुरु मिलते हैं। फिर सिद्ध सद्गुरु की कृपा से साधक योगी बन जाता है। तब अज्ञान जनित संसार का नाश हो जाता है। सद्गुरु अपने शिष्य पर शक्तिपात (Transmission of Power) या शक्ति-संचार करता है शक्ति संचार करने के अनेक उपाय हैं। यह सिद्ध पुरुषों के दीक्षा के प्रकार कहलाते हैं। इनमें दृग दीक्षा, संकल्प दीक्षा, हार्द दीक्षा, स्पर्श दीक्षा, वाक् दीक्षा आदि शक्ति संचार के तरीके हैं। सिद्धयोगी अपने शिष्य के आन्तरिक शक्ति का उद्बोधन करा देते हैं। सद्गुरु अपने शिष्य का सदा हित करते हैं। सद्गुरुदेवजी प्रायः कहा करते हैं कि जो सद्गुरु के कन्ट्रोल में नहीं रहते वे समाधि को पा जाने पर भी पूर्णता को नहीं पाते हैं, मन की एकाग्रता उन्हें मिल जाती है और वे समाधि को भी पा जाते हैं परन्तु समाधि छूट जाने पर अर्थात्—व्युत्थान दशा में उसकी जैसी प्रकृति या स्वभाव होता है वैसे-वैसे वह चेष्टायें करता है।

भगवान् श्रीकृष्ण ने श्रीमद्भगवद्गीता में स्वयं अपने मुखारविन्द से कहा है।

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि ।

अर्थात्—ज्ञानवान् भी अपनी प्रकृति के अनुसार चेष्टा करते हैं। योग-दर्शन में भी इसी बात की पुष्टि मिलती है 'वृत्तिसारूप्यमितरत्र' कहकर बताया गया है कि व्युत्थान दशा में जैसे साधक की वृत्ति होती है वैसे ही स्वरूप वाला पुरुष भी होता है, जबकि समाधि में अपने स्वरूप में अवस्थित होता है।

'सिद्धयोग' में चूँकि साधक शिष्य पूर्णरूप से सद्गुरु परायण होता है अतः व्युत्थान दशा में भी उसकी परम सात्विकी वृत्ति रहती है। क्योंकि सद्गुरु की कृपा हर समय उस पर रहती है जो उसे पतन से बचाती रहती है। सद्गुरु का अंकुश साधक के लिए वरदान जन्म-जन्मान्तर के क्लिष्ट संस्कार दृढ़ मूल वाले होते हैं। अनन्तकालीन वासनायें साधक को क्षेपित करती रहती हैं परन्तु सद्गुरु कृपा का सम्बल पाकर वह उत्तरोत्तर आगे बढ़ता चला जाता है।

इसी योग विद्या को 'स कालेनेह महता योगो नष्टः परंतप' के अनुसार विलुप्त होता जानकर 'सिद्धयोग' परम्परा को अनुप्राणित व जीवित रखते हुए हम सबके जीवनाधार एवं सूत्रधार आनन्दकन्द योगयोगेश्वर

महाप्रभु श्री रामलालजी ने अपने मुमुक्षु व योग-जिज्ञासु शिष्यों का कल्याण करने के लिए अवनि-मण्डल पर अवतरण लिया। अवनि-मण्डल पर प्रादुर्भूत होकर उन्होंने अनेक स्थानों पर अनेक शरीरों को धारण करके अपने अधिकारी साधकों पर कृपा करके इस अमर विद्या का प्रचार व प्रसार किया। भारत में जहाँ-जहाँ भी विभूतिमान योगी-महात्मा सुनने व देखने में आते हैं उन सब पर किसी न किसी प्रकार से उन महाप्रभु की कृपा ही कारण है। 'यद्यद् विभूतिमत्सत्वं' की उक्ति के अनुसार महाप्रभु का ही सब पर हाथ रहा है व उन्हींके तेज ने संसार में काम किया। पूज्यपाद सद्गुरुदेवजी बतलाते हैं कि योग की भिन्न-भिन्न क्रियाओं का प्रचार महाप्रभुजी ने किया था। संसार में उतनी ही प्रसारित हुई उससे आगे किसीको उन यौगिक क्रियाओं का ज्ञान नहीं है, क्योंकि श्री प्रभुजी ने उतने तक का ही विस्तार एवं प्रसार किया था।

उन करुणा-सागर ने अनेक महान् विभूतियों को संसार के कल्याण के लिए समर्थ बना दिया। इनमेंसे नित्य स्मरणीय पूज्यपाद गुरुदेव अनन्त विभूषित योगिराज श्री चन्द्रमोहनजी महाराज हम सबके कल्याण के लिए कृत-संकल्प हो गाँव-गाँव शहर-शहर में इस अमर-विद्या के प्रचार-प्रसार के लिए प्रयत्नशील हैं।

अपने शिष्यों को पतन से बचाने के लिए तथा पूर्ण विषयों से वितृष्ण बनाने के लिए परम करुणार्णव श्री प्रभुजी उन्हें शक्तिपात के द्वारा इन्द्रादि लोक-लोकान्तरों का दर्शन करा दिया करते थे और उनमें दोष-दर्शन दिखाकर उन्हें उनसे उपराम बना दिया करते थे। सम्प्रज्ञात की दूसरी अवस्था विचारानुगत समाधि है। इसमें साधक महाभूतों की तन्मात्राओं का साक्षात्कार करता है। उस समय देवता लोग उसे अनेक प्रकार के प्रलोभन देते हैं व उसे पतन की ओर धकेलने का प्रयत्न करते हैं। उस अवस्था से वही आगे बढ़ पाता है, जो पूर्ण सद्गुरुशरण हो जिन पर गुरुदेव की पूर्ण कृपा हो। महाप्रभु जी के चरण-कमलोंमें ऐसे-ऐसे पतित व भ्रष्ट लोगों का जीवन भी योगमय बन गया। पूज्यपाद गुरुदेवजी अमृतसर के साँईदास का उदाहरण दिया करते हैं कि किस प्रकार से वह पहले बहुत ही व्यभिचारी व कामी व्यक्ति था, परन्तु श्री प्रभुजी ने शक्तिपात से उसके संपूर्ण मनोवृत्ति को बदलकर उसे पूर्ण एकाग्रता प्राप्त कर उसे योगारूढ़ बना दिया। रामरती की कहानी किसे विदित नहीं है। परम व्यभिचारपूर्ण जीवन को बिल्कुल बदल कर सर्व समर्थ उन्हें देवी व सर्व शक्ति-सम्पन्ना बना दिया।

'मयि सर्वमिदं प्रोक्तं सूत्रे मणिगणा इव' भगवान् के इन वचनानुसार हम सब 'सिद्धयोग' के विद्यार्थी उन्हीं परम प्रभुजी के सूत्र में बंधे हुए हैं। हम सब उनकी करुण-कृपा से ही विकास पा रहे हैं। उन्हीं महाप्रभुजी की जन्म-शताब्दी समारोह इस वर्ष हम सब बड़े हर्षोल्लास के साथ मना रहे हैं।

'सिद्धयोग' के सभी विद्यार्थियों की ओर से इस पावन अवसर पर उन महाप्रभुजी को हमारा कोटि-कोटि प्रणाम है। ★

अभ्यास और वैराग्य

● ★ डा० कृष्णकान्त शर्मा

महर्षि पतञ्जलि ने अपने योगसूत्र के प्रारम्भ में ही योग का लक्षण प्रस्तुत करते हुए कहा 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः'[1] अर्थात् चित्तवृत्तियों का निरोध ही योग है। प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति ये पाँच चित्त की वृत्तियाँ हैं। अब प्रश्न उठता है कि इन वृत्तियों का निरोध कैसे किया जाये। चित्त की एकाग्र भूमि में ही वृत्तियों का निरोध सम्भव है। अतः महर्षि पतञ्जलि ने ने अधिकारिभेद से तीन सोपानों में वृत्ति-निरोध के उपायों का वर्णन प्रस्तुत किया है—(१) अभ्यास और वैराग्य[2], (२) क्रियायोग[3], एवं (३) अष्टांगयोग[4]।

भाष्यकार व्यासदेव के अनुसार अभ्यास और वैराग्य समाहितचित्तवाले उत्तम अधिकारियों के लिए है तथा क्रियायोग एवं अष्टाङ्गयोग व्युत्थितचित्त वालों के लिए है।[5] किन्तु आचार्य विज्ञान भिक्षु ने इस विषय को स्पष्ट करते हुए कहा है कि मन्द, मध्यम और उत्तम भेद से योग के अधिकारी तीन प्रकार के हैं। ये क्रमशः आरुरुक्षु, युञ्जान एवं योगारूढ़ कहलाते हैं।[6] आरुरुक्षु मन्द अधिकारी के लिए अष्टाङ्गयोग की साधना बताई गई है। युञ्जान मध्यम अधिकारी के लिए क्रियायोग का उपदेश किया गया है और योगारूढ़ उत्तम साधकों के लिए अभ्यास एवं वैराग्य का निरूपण किया गया है। उत्तम साधक वे होते हैं जिन्होंने पूर्व जन्मों में ही योगाभ्यास प्रारम्भ कर योग के यमनियमादि पाँच बहिरंग साधनों को सिद्ध कर लिया है। ऐसे उत्तम साधक को वर्तमान जीवन में पुनः यम-नियमादि का अनुष्ठान नहीं करना पड़ता। अतः महर्षि पतञ्जलि ने ऐसे उत्तम साधकों के लिए योग प्राप्ति के मुख्य उपाय के रूप में अभ्यास और वैराग्य का निरूपण किया है। यहाँ पर इन्हीं दोनों उपायों पर यत्किञ्चित् प्रकाश डाला जा रहा है।

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः[7] सूत्र की व्याख्या करते हुए भाष्यकार व्यासदेव ने चित्त की उपमा एक ऐसी नदी से की है जिसकी दो धारायें हैं।[8] एक धारा

---

१ पातञ्जल योग सूत्र १/२
२ अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः —पा० यो० सू० १/१२
३ तपःस्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि क्रियायोगः —पा० यो० सू० २/१
४ यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि —पा०यो०सू० २/२९
५ उद्दिष्टः समाहितचित्तस्य योगः, कथं व्युत्थितचित्तोऽपि योगयुक्तः स्यादित्येतदारभ्यते—
व्यासभाष्य—२/१
६ तत्र मन्दमध्यमोत्तमभेदेन त्रिविधा योगाधिकारिणो भवन्त्यारुरुक्षुयुञ्जानयोगारूढाः
योगम— पृ० ३७
७ पातञ्जल योग सूत्र १/१२
८ चित्तनदी नामोभयतोवाहिनी —व्यासभाष्य, १/

अन्तर्मुखी है और दूसरी पापकारी। एक मोक्षदायिनी है और दूसरी संसारदायिनी है। एक धारा चित्त-स्वर्वनिमित्तिका है तो दूसरी चित्तचाञ्चल्यनिमित्तिका। एक धारा अध्यात्मविषयानुरागिनी है तो दूसरी भौतिक विषयानुरागिनी। एक धारा पारमार्थिक सुखोत्पादिनी है तो दूसरी काल्पनिक सुखोत्पादिनी। इस प्रकार चित्तरूपी नदी में दोनों प्रकार की तरङ्गें उठती हैं और गिरती हैं। सामान्यजनों के चित्त की कल्याणवाहिनी धारा बड़ी हल्की और छिन्न-भिन्न रूप की होती है किन्तु उनकी पापवाहिनी धारा सुदृढ़ होती है। इसीलिए योगी को चाहिए कि वह पापवाहिनी धारा को क्षीण करे और कल्याणवाहिनी धारा को ठीक से प्रवाहित करे। चित्त-नदी की पापवाहिनी बहिर्मुखी धारा को अवरुद्ध करने तथा कल्याणवाहिनी अन्तर्मुखी धारा को तीव्र गति से प्रवाहित करने के लिए महर्षि पतञ्जलि ने अभ्यास और वैराग्य नामक दो उपायों का उपदेश किया है। पहले वैराग्य नामक उपाय के द्वारा अविवेकपूर्ण ऐहिक एवं आमुष्मिक विषयोन्मुखिनी धारा सुखाई जाती है। अर्थात् वैराग्य नामक उपाय से चित्त की विषयोन्मुखता दूर की जाती है तदनन्तर तत्त्वज्ञान के अभ्यास से विवेकज्ञान वाली कल्याणवाहिनी धारा उद्घाटित की जाती है अर्थात् प्रबलतया प्रवाहित की जाती है।[१] तात्पर्य यह है कि अभ्यास नामक उपाय के द्वारा चित्त को विवेकज्ञान की ओर एकाग्र किया जाता है।

इस प्रकार चित्तवृत्तिनिरोध के लिए अभ्यास और वैराग्य दोनों ही अपेक्षित हैं।[२] श्रीमद्भागवद्गीता में जब अर्जुन ने कहा कि हे कृष्ण यह मन बड़ा ही चञ्चल है। यह मन प्रमथनशील भी है अर्थात् शरीर को क्षुब्ध और इन्द्रियों को विक्षिप्त कर देता है। यह इतना बलवान् एवं दृढ़ है कि इसका निरोध करना वायु की भाँति दुष्कर है। अर्थात् जैसे वायु को रोकना दुष्कर है, मन को रोकना उससे भी कहीं दुष्कर है।[३] ऐसे दुर्निग्रहीत मन को एकाग्र करने का उपाय बताते हुए भगवान् कृष्ण ने भी अर्जुन से कहा है कि हे महाबाहो! इसमें कोई सन्देह नहीं है कि यह मन अत्यन्त चञ्चल है और इसका निग्रह करना सहज नहीं है फिर भी अभ्यास और वैराग्य से इसका निग्रह किया जा सकता है।[४]

अब प्रश्न उठता है कि यह अभ्यास और वैराग्य क्या है? इस प्रश्न के समाधानार्थ यहाँ अभ्यास और वैराग्य के स्वरूप का निरूपण किया जा रहा है।

अभ्यास—महर्षि पतञ्जलि ने कहा है कि स्थिति विषयक यत्न का नाम अभ्यास है।[५] अभ्यास को समझने के लिए स्थिति को समझना आवश्यक है। स्थिति की व्याख्या करते

---

१ तत्र वैराग्येण विषय स्रोतः खिलीक्रियते, विवेकदर्शनाभ्यासेन विवेकस्रोत उद्घाट्यते—वही
२ उभयाधीनश्चित्तवृत्तिनिरोधः —व्यासभाष्य १/१२
३ चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद् दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्॥ गीता ६/२४
महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
५ तत्र स्थितौ कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते॥ गीता ६/३५
—पातञ्जल योग सूत्र १/१३

हुए व्यासदेव ने कहा है कि वृत्तिशून्य चित्त की प्रशान्तवाहिता अर्थात् निरोध के प्रवाह का नाम स्थिति है।[1] उसी स्थिति के लिए जो प्रयत्न है, वीर्य है या उत्साह है अर्थात् उसी स्थिति के सम्पादन की इच्छा से बार-बार उसके साधनों का अनुष्ठान ही अभ्यास है। जितने उत्साह और वीर्य से कोई साधक यत्न करेगा वह उतनी ही जल्दी अभ्यास में दृढ़ता को प्राप्त कर लेगा। जैसा कि श्रुति भी कहती है—

"नायमात्मा बल हीनेन लभ्यो,
न च प्रमादात्तपसो वाप्यलिङ्गात्।
एतैरुपायैर्यतते यस्तु विद्वान्,
तस्यैष आत्मा विशते ब्रह्मधाम।"[2]

अभ्यास का मुख्य प्रयोजन चित्त की स्थिरता है। चित्त के स्थिर रहने पर शेष समस्त इन्द्रियाँ स्वतः तदनुगामिनी हो जाती हैं। चित्त की स्थिरता की उत्कृष्ट अवस्था वह अवस्था है जिसमें वृत्त्यन्तरशून्य ध्येयाकारित चित्त की प्रशान्त वाहिनी अवस्था होती है। इस अवस्था में चित्त हर्ष-शोकादि से विचलित नहीं होता, अपितु एकाग्र रहता है। इस प्रशान्तवाहिता का वर्णन प्रस्तुत करते हुए विज्ञानभिक्षु ने महोपनिषद् से एक श्लोक उद्धृत किया है, जो इस प्रकार है।

"श्रुत्वा स्पृष्ट्वा च दृष्ट्वा च
भुक्त्वा घ्रात्वा शुभाशुभम्।
न हृष्यति ग्लायति च
स शान्त इति कथ्यते॥"[3]

अर्थात् स्तुतिपरक अथवा निन्दापरक वाक्य तथा सुमधुर-गीत अथवा कर्कश शब्द सुनकर, कोमल वस्त्र आदि अथवा खुरदुरे पदार्थ छूकर, मनोहर अथवा जुगुप्सित रूप देखकर, सुस्वादु अथवा अस्वादु अन्न खाकर, सुगन्धित अथवा दुर्गन्धित पदार्थ सूँघकर

गीत

★ अब तो हमें उबारो

● श्री रामप्रकाश 'अनुरागी'

प्रभु जी!
अब तो हमें उबारो।

●

जो भर पेट पचे, सब डूबे,
साधे हुए साँस को ऊबे,
सारी शक्ति लगा दी फिर भी,
विफल हुए सारे मंसूबे।
नंगे पाँव पधारो,
प्रभु जी!
अब तो हमें उबारो।

●

बहुत सरोवर का जल गहरा,
बहता हुआ नहीं है ठहरा,
सब चिंघाड़ें व्यर्थ हो गईं,
लगता सारा जग है बहरा।
कृपा-सिंधु अवतारो,
प्रभु जी!
अब तो हमें उबारो।

●

ग्रह से ग्राही ताकत प्रबल है,
एक आपका ही सम्बल है,
एकमात्र औषधि रज ही है,
शरणागति ही अन्तिम हल है।
सकल अशुभ संहारो,
प्रभु जी!
अब तो हमें उबारो।

---

१ चित्तस्यावृत्तिकस्य प्रशान्तवाहिता स्थितिः —व्यासभाष्य १/२३
२ मुण्डक—३/२/४
३ महोपनिषद्—४/३२

जो न प्रसन्न होता है न विषण्ण वही शान्त कहलाता है।

अभ्यास को चित्त की स्थिरता के प्रति उपाय कहा गया है, किन्तु यहाँ यह आशंका होती है कि अनादि काल से विद्यमान स्वाभाविक चंचल चित्तवृत्तियों का निरोध अभ्यास के द्वारा कैसे सम्भव है? इसका समाधान यह है कि चित्तवृत्तिनिरोध के लिए साधक का दो-चार दिन का अभ्यास अथवा सप्ताह-मास-वर्ष पर्यन्त अन्यमनस्क भाव से किया गया शिथिल अभ्यास चंचल चित्तवृत्तियों को स्थिर करने में सक्षम नहीं हो सकता। किन्तु पूर्ण श्रद्धा एवं विश्वास के साथ जन्म-जन्मान्तर तक निरन्तर किया गया अभ्यास सुदृढ़ होकर चित्तवृत्तियों का निरोध करने में समर्थ होता है।[1] अभ्यास के दृढ़ होने पर वह प्रकृति के विपरीत कार्य करवाने में भी सक्षम होता है। विष, जिसके पान से मृत्यु होती है, निरन्तर अभ्यास से ऐसा विष भी अमृत बन गया है। जैसा कि योगविलास में कहा गया है—

"विषाण्यमृततां यान्ति सतताभ्यासयोगतः।"[2]

श्रद्धापूर्वक अभ्यास करने से वह अभ्यास दृढ़ एवं अपराजेय होता है, जैसा कि श्रुति कहती है—"यदेव विद्यया करोति श्रद्धयोपनिषदा तदेव वीर्यवत्तरं भवति।"[3]

वैराग्य—चित्तवृत्ति निरोध के लिये वैराग्य भी महत्त्वपूर्ण उपाय है। विराग राग का विरोधी है। विषय के प्रति स्वाभाविक विरक्ति को ही वैराग्य कहा जाता है। यह वैराग्य भी दो प्रकार का होता है—अपर-वैराग्य और परवैराग्य। योग साधना के प्रारम्भ से लेकर विवेकख्याति पर्यन्त जिस वैराग्य की आवश्यकता और सम्भाव्यमानता होती है उसे अपर वैराग्य कहते हैं। सम्प्रज्ञात समाधि के सिद्ध होने पर प्राप्त होने वाली विवेकख्याति के उपरान्त उस विवेकख्याति या तत्त्वज्ञान के प्रति भी होने वाली विरक्ति को परवैराग्य कहा जाता है। अब इन दोनों वैराग्यों पर विचार प्रस्तुत है।

अपरवैराग्य—इस लोक में सुलभ होने वाले शब्दादि विषय एवं वेद में बताये गए स्वर्गलोकादि विषयों के प्रति विरक्त निस्पृह या उदासीन चित्त की वशीकार संज्ञा होती है। इसी वशीकार संज्ञा का अपरपर्याय अपर-वैराग्य है। जैसाकि सूत्रकार ने कहा है—दृष्टानुश्रविक विषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्।[4]

अपरवैराग्य अर्थात् दृष्टादृष्ट विषयों के प्रति पूर्णरूप से वैराग्य सहसा उत्पन्न नहीं होता। वैराग्य के विषयों को शनैः-शनैः बढ़ता हुआ योगी वैराग्य को प्रौढ़-प्रौढ़तर-प्रौढ़तम करता है। इस क्रमिक विकास के आधार पर अपर-वैराग्य की चार अवस्थायें कही हैं—यतमान, व्यतिरेक, एकेन्द्रिय और वशीकार।

परवैराग्य—अपर वैराग्य के बाद पर-वैराग्य सिद्ध होता है। परवैराग्य का लक्षण प्रस्तुत करते हुए महर्षि पतञ्जलि ने कहा है—

"तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्।"[5]

(शेष पृष्ठ ९२ पर)

---

१ स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः —पा० यो० सू० १/१४

२ महोपनिषद् —४/६२

३ छान्दोग्योपनिषद् —१/१/१०

४ पा० यो० सू० १/१५

५ पा० यो० सू० १/१६

अन्त समय जो मति सो गति

★ श्री जगदीश नारायण उपाध्याय

वेद कहते हैं आत्मा ब्रह्म-स्वरूप है. वह केवल पंचभूतों में बंध गई है और उन बंधनों के टूटने पर वह अपने पूर्व के पूर्णत्व को प्राप्त हो जायेगी। इस अवस्था का नाम मुक्ति है, जिसका अर्थ है स्वाधीनता-पूर्णता, जन्म-मृत्यु, आधि-व्याधि से छुटकारा। आत्मा का यह बन्धन केवल ईश्वर की दया से ही टूट सकता है। उसकी दया शुद्ध, पवित्र स्वभाव वाले लोगों को प्राप्त होती है। पवित्रता ही उनके अनुग्रह की प्राप्ति का उपाय है। जब उसकी कृपा होती है, तब शुद्ध और पवित्र हृदय में वह आविर्भूत होती है। विशुद्ध और निर्मल मनुष्य इसी जीवन में ईश्वर-दर्शन प्राप्त कर कृतार्थ हो जाता है। उपनिषद् के अनुसार समस्त उसकी कुटिलता नष्ट हो जाती है, सारे सन्देह दूर हो जाते हैं। वह कार्य कारण के भयानक नियम के हाथ का खिलौना नहीं रह जाता। वह शब्दों और सिद्धान्तों के जाल में समय बिताना नहीं चाहता। यदि इस साधारण वैयक्तिक जीवन के परे और भी कोई अवस्था है, कोई अतीन्द्रिय जीवन है, तो वह उसका प्रत्यक्ष अनुभव करना चाहता है। यदि उसमें कोई आत्मा है, जो जड़ वस्तु नहीं है। यदि कोई दयामय सर्व व्यापी परमात्मा है तो वह उसका साक्षात्कार कर लेना चाहता है। अतः हिन्दू ऋषि आत्मा के विषय में यही सर्वोत्तम प्रमाण देता है। "मैंने आत्मा का दर्शन किया है, मैंने ईश्वर का दर्शन किया है और यही पूर्णत्व की एकमात्र शर्त है। भिन्न मत-मतान्तरों या सिद्धान्तों पर विश्वास करने को अवतत हिन्दू धर्म नहीं है, वरन् धर्म तो विज्ञान की तरह प्रत्यक्ष अनुभूति या साक्षात्कार का विषय है। धर्म का मूलमन्त्र है, मैं आत्मा हूं, यह विश्वास होना और तद्रूप बन जाना।

अतः हिन्दुओं की सारी साधना प्रणाली का लक्ष्य सतत् अध्यवसाय द्वारा पूर्ण बन जाना, देवता बन जाना, ईश्वर के निकट जाकर उसके दर्शन कर उन सर्वश्रेष्ठ ईश्वर के समान पूर्ण हो जाना यही अन्त में वैदिक धर्म है।

जब मनुष्य पूर्णत्व को प्राप्त कर लेता है तब उसका क्या होता है ? तब वह असीम आनन्द का जीवन व्यतीत करता है। वह अन्य समस्त लोगों की अपेक्षा उत्कृष्ट लाभ का अधिकारी हो जाता है। इस विषय में सभी एक मत हैं। भारत के भिन्न-भिन्न पन्थों का इस विषय में एक ही मत है, परन्तु अब बात यह है कि तुरीय अथवा निर्विकल्प अवस्थाओं का ही नाम पूर्णावस्था है और यह निर्विकल्प अवस्था तो एकमेव, अद्वितीय और गुणातीत है, जिसमें व्यक्तित्व कदापि नहीं रह सकता, "ब्रह्मविद् ब्रह्म भवति।" अतः आत्मा पूर्णत्व को, इस निर्विकल्प अवस्था को प्राप्त कर लेती है, तब वह ब्रह्म के साथ एकता को प्राप्त हो जाती है तथा द्वैत भाव से रहित हो जाने के कारण वह स्वयं ही सत्स्वरूप, ज्ञान-स्वरूप एवं आनन्द-स्वरूप हो जाती है। हम इस अवस्था के विषयमें किन्हीं-किन्हीं पाश्चात्य दार्शनिकों के ग्रन्थों में बार-म्बार पढ़ा करते हैं कि मनुष्य व्यक्तित्व का

खोकर जड़ता प्राप्त करता है या पत्थर के समान बन जाता है।

विज्ञान एकत्व की खोज के सिवाय और कुछ नहीं है। ज्योंही कोई विज्ञान-शास्त्र पूर्ण एकता तक पहुँच जायगा, त्योंही उसका और आगे बढ़ना रुक जायगा, क्योंकि तब तक वह अपने लक्ष्य को प्राप्त कर चुकेगा। उदाहरणार्थ रसायन शास्त्र यदि एक बार उस एक मूल द्रव्य का पता लगा ले, जिससे और सब द्रव्य बन सकते हैं, तो फिर वह और आगे नहीं बढ़ सकेगा। पदार्थ विज्ञान शास्त्र जब उस एक मूल शक्तिका पता लगा लेगा जिसमें अन्य शक्तियाँ बाहर निकलती हैं, तब वह पूर्णता पर पहुंच जायेगा। वैसे ही धर्म-शास्त्र का अभ्यासी भी उस समय पूर्णता को प्राप्त हो जायेगा, जब वह उस मूल कारण को जान लेगा, जो इस मर्त्यलोक में एकमात्र अद्वैत अमूर्त स्वरूप है, जो नित्य परिवर्तनशील जगत् का एकमात्र अचल-अटल आधार है, जो एकमात्र परमात्मा है और अन्य सब आत्माएँ जिसके प्रतिबिम्ब स्वरूप हैं। इस प्रकार अनेकेश्वरवाद, द्वैतवाद आदि होते हुए इस अद्वैत की प्राप्ति होती है। धर्म-शास्त्र इससे आगे नहीं जा सकता, यही सारे विज्ञानों का चरम लक्ष्य है। इसीलिए दार्शनिकों ने कहा है—'अद्वैत' धर्म विज्ञान का चरम सिद्धान्त है।

कठोपनिषद् २/२/१५ में आया है—

न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं
नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः।
तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥

सूर्य उस परमात्मा को प्रकाशित नहीं कर सकता, न चन्द्रमा या तारागण ही, वह विद्युत प्रभा परमेश्वर को उद्भासित नहीं कर सकती, तब इस सामान्य अग्नि की बात ही क्या? ये सभी उसी परमेश्वर के कारण प्रकाशित होते हैं।

आदि गुरु शंकराचार्य ने (ब्र० सू० अ० २ पा० ६ अविसंकर भाष्य) में अद्वैत की व्याख्या निम्न शब्दों में की है—

अद्वैतं तत्त्वतो ब्रह्म तच्चा विद्यामहाययत्।
नाना कार्यं करं कार्यक्रमोऽविद्याभ्य शक्तिभिः॥

यद्यपि परमार्थतः ब्रह्म एक ही है तथापि वह अविद्यादि की सहायता से अनेक विचित्र कार्यों को उत्पन्न कर सकता है और अविद्या की शक्तियों से कार्य-क्रम की व्यवस्था हो सकती। इस माया अर्थात् अविद्या को अलग मानने में अद्वैत सिद्धांत खण्डित होता था और सत्य मानने में इसके अन्तर्गत सारा संसार श्रुति, स्मृति और स्वयं अपना अद्वैत सिद्धांत असत् और मिथ्या सिद्ध होता था। इसलिए इसको अनिर्वचनीय नाम दिया गया है जिसको न सत् कह सकते हैं और न असत्। इस प्रकार शंकर की त्रिगुणात्मिका माया अर्थात् अविद्या सांख्य की त्रिगुणात्मिका प्रकृति है। अनिर्वचनीय सत् और असत् दोनों विलक्षण कह देना केवल शब्दों का रूपान्तर है। दोनों सिद्धांतों का इनसे परे होकर अपने शुद्ध चेतन स्वरूप में अवस्थित होना अन्तिम ध्येय है। एक और मुख्य भेद इन दोनों सिद्धान्तों का है—

क्लेशमूलः कर्माशयो दृष्टादृष्ट जन्म वेदनीय।

—योग-दर्शन २/१२

योग-दर्शन के अनुसार पाँच क्लेश—अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, और अभिनिवेश। जिसके बीज क्लेश हैं, ऐसा यह

कर्माशय 'दृष्टादृष्ट जन्म वेदनीयः' है। वर्तमान जन्म और भावी जन्मों को देने वाला है।

व्याख्या—इसका भाव यह है कि जब तक कर्माशय है तब तक जीव अनेक शरीरों को धारण करता है। वृक्ष-बीज न्याय के अनुसार इस कर्माशय का कोई दिन अन्त नहीं आता और इससे जीव जन्म-मरण से निवृत्त नहीं हो सकता। इसके लिये एक ही उपाय है, और वह यह है कि :—

ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा।

—भ० गी० ४/३७

योग के विशिष्ट साधकों के सिद्धान्त के अनुसार जिन योगनिष्ठ साधकों ने क्लेशों को निर्बीज समाधि द्वारा उखाड़ दिया है, उनके कर्म निष्काम अर्थात् वासना रहित केवल कर्तव्य मात्र रहते हैं इसलिये उनको इसका फल भोगना नहीं है। जब चित्त में क्लेशों के संस्कार जमे होते हैं तब उसमें सकाम कर्म उत्पन्न होते हैं। बिना रजोगुण के कोई क्रिया नहीं हो सकती। इस रजोगुण का जब सत्त्वगुण के साथ मेल होता है तब ज्ञान, धर्म, वैराग्य और ऐश्वर्य के कर्मों में प्रवृत्ति होती है। और ये कर्म पुण्य-पाप से मिश्रित कहलाता है। इन कर्मों से इन्हीं के अनुकूल फल भोगों के बीज रूप जो संस्कार चित्त में पड़ते हैं उन्हीं को वासना कहते हैं। यही मीमांसकों का अपूर्व और नैयायिकों का अदृश्य है, इसी को सूत्र में कर्माशय के नाम से बतलाया जाता है।

पुण्य कर्माशय मनुष्यों से ऊँचे देवताओं आदि सदृश्य भोग देने वाले होते हैं। पाप कर्माशय मनुष्य से नीचे पशु-पक्षी आदि के तुल्य भोग देने वाले होते हैं। पाप और पुण्य मिश्रित कर्माशय मनुष्यों के समान भोग फल देने वाले होते हैं। ऊपर तीन श्रेणियों में बतलाये कर्मों में केवल शरीर अथवा इन्द्रियाँ कारण नहीं होती, वास्तविक कारण उनकी मनोवृत्ति होती है। इस हेतु यह मनोवृत्ति ही वास्तविक कर्म है, जिसकी प्रेरणा से शरीर तथा इन्द्रियों में क्रिया होती है। उसी से वासनाओं के संस्कार पड़ते हैं। ये मनोवृत्तियाँ अनन्त है, और इसीसे उत्पन्न हुये कर्माशय अथवा फल-भोग के संस्कार भी अनन्त हैं। इस प्रकार मनोवृत्ति रूपी कर्मों से वासनायें और वासनाओं से कर्म उत्पन्न होते हैं। यह क्रम बराबर चलता रहता है, जब तक की उसके प्रतिपक्षी उनसे बलवान कर्म उनको दबा न दें। कुछ कर्माशय वर्तमान जन्म में कुछ अगले जन्म में और कुछ दोनों जन्मों के फल देते हैं। इसको विस्तार पूर्वक अगले सूत्र में बतलाया जायेगा।

सति मूले तद्विपाको जात्यायु र्भोगाः।

—पा० यो० २/१३

अन्वयार्थ—अविद्या आदि क्लेशों को जड़ होते हुये उस (कर्माशय) का फल जाति, आयु और भोग होता है।

व्याख्या—मनुष्य, पशु, देव आदि जाति कहलाती है। बहुत काल तक जीवात्मा का एक शरीर के साथ सम्बन्ध रहना आयु पद का अर्थ है। इन्द्रियों के विषय रूप रसादि भोग शब्दार्थ है। यहां सूत्र बारह एवं तेरहवें क्लेशों, कर्माशयों जाति, आयु और भोग को अलंकार रूप से वर्णन किया है। क्लेश जड़ है, इन जड़ों से कर्माशय वृक्ष बढ़ता है। उस वृक्ष में जाति, आयु और भोग तीन प्रकार के फल लगते हैं। कर्माशय का वृक्ष उसी समय तक फलता है जब तक अविद्यादि क्लेश रूपी उसकी जड़ विद्यमान रहती है। तत्वज्ञान

(विवेक ख्याति) द्वारा उस जड़ के कट जाने पर कर्माशय रूपी वृक्ष जाति, आयु और भोग रूपी फल तथा सुख-दुःख रूपी उन फलों की स्वाद की निवृत्ति स्वयं हो जाती है। कर्माशय की उत्पत्ति तथा फल में अविद्यादि क्लेश ही मूल है। पिछले सूत्र में बतलाया गया है कि मन की वृत्ति रूपी कर्म अनन्त है, जो समस्त जीवन में होते रहते हैं। उनसे उत्पन्न हुये संस्कार भी अनन्त हैं, जिनसे चित्त चित्रित रहता है। ये संस्कार चित्त में जन्म-जन्मान्तरों से चले आ रहे हैं। जब जिन कर्माशयों के संस्कार चित्त में प्रबल रूप से उत्पन्न होते हैं, तब उन्हें प्रधान कहते हैं। जो शिथिल रूप से रहते हैं, उन्हें उपसर्जन कहते हैं मृत्यु के समय प्रधान पूर्ण वेग से जाग उठते हैं, और अपने जैसे पूर्व सब जन्मों के कर्माशय के संचित संस्कारों के अभिव्यञ्जक होकर उनको जगा देते हैं। (पा० यो० ४ सूत्र ९) में इसको इस प्रकार दिया गया है।

जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं
स्मृतिसंस्कारयोरेकरूपत्वात्।

—योग-दर्शन ४/९

इन सब प्रधान संस्कारों के अनुसार ही अगला जन्म ऐसी जाति, देवता, मनुष्य, पशु पक्षी आदि में होता है। जिनमें उन कर्माशयों का फल भोगा जा सके, उतनी आयु देने वाले होते हैं, जिनमें निश्चित भोग समाप्त हो सके। उन्हीं कर्माशयों के अनुकूल उनका भोग नियत होता है। इस प्रधान कर्माशय से लगे अगला जन्म आयु तथा भोग नियत हो गया है, उनको 'नियत-विपाक' कहते हैं, जो उस बारहवें सूत्र 'दृष्ट जन्म वेदनीय' में बतलाया है। उपसर्जन कर्माशय जो अगले जन्मों में भोग्य है, पर अभी उनका फल नियत नहीं हुआ है, उन्हें 'अनियत विपाक' कहते हैं। उन्हीं को पा० यो० सूत्र २/१२ में 'अदृष्ट जन्मवेदनीय' कहा है। इन उपसर्जन कर्माशय की जो दबे पड़े हुए हैं, उनका फल अभी निश्चित नहीं हुआ है अर्थात् जो अनियत विपाक वाले हैं, उनकी तीन प्रकार की गति होती है—(१) या तो बिना पके नियत विपाक को निश्चित न्यून (दुर्बल) करके स्वयं नष्ट हो जाते हैं। इनसे यह नहीं समझना चाहिए कि बिना फल दिए ही नष्ट हो गये। (२) या वे नियत विपाक के साथ हो जाते हैं और समय-समय पर अवसर पाकर अन्यत्र फल देते हैं। (३) या वे चित्त भूमि में ही दबे पड़े रहते हैं, जब तक कि किसी जन्म में उनके फल देने का अवसर नहीं मिल जाता। जब कभी उनके जगाने वाले कर्माशय प्रधान होते हैं, उस अभिव्यंजक को पाकर अपना फल देने के लिए जाग उठते हैं।

जब शरीर को छोड़ने का समय आयेगा तो यही हिंसा से सम्बन्ध रखने वाले कर्माशय प्रधान रूप से जागेंगे और उसकी सारी मनोवृत्तियों के अनुसार वैसा ही किसी हिंसक योनि में उसका अगला जन्म होगा और वैसी ही आयु तथा भोग होगा। जैसा कि कहावत है—'अन्त समय जो मति सो गति' तथा गीता और उपनिषद् में ऐसा ही बतलाया गया है। यथा—

यं यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः॥

—गीता ८/६

कामान् यः कामयते मन्यमानः
स कामभिर्जायते तत्र तत्र।
पर्याप्तकामस्य कृतात्मनस्तु
इहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः॥

—मुण्डकोपनिषद् ३/२-२

जो इच्छाओं को मन में रखता हुआ उनकी पूर्ति चाहता है, वह मनुष्य उन वासनाओं के अनुसार उत्पन्न होता है, परन्तु जिसने आत्मा का साक्षात्कार कर लिया है, उस पूर्ण हुई इच्छा वाले मनुष्य की समस्त कामनायें इस शरीर में ही विलीन हो जाती हैं। जहाँ किसी हिंसक योनियों में ऐसा गर्भ तैयार होगा जिसमें इसकी सारी वासनाओं की पूर्ति के सब साधन हों, वहीं यह अपना स्थान बना लेगा, क्योंकि प्राकृतिक नियम यही है कि स्वभाव अपने जैसे स्वभाव को और खिंचता है। चुम्बक पत्थर जिस प्रकार लोहे को अपनी ओर आकर्षित करता है उसी प्रकार ऐसे गर्भ अपने स्वभाव वाले सूक्ष्म शरीरों को अपनी ओर खींचते हैं। यह ईश्वर के पूर्ण ज्ञान, नियम और व्यवस्था में प्रमाण है कि हरेक प्राणी के लिए शरीर छोड़ने के पूर्व उसके अनुसार गर्भ तैयार रहता है। अब इसमें ईश्वर की दया सर्व शक्तिमत्ता तथा कल्याणकारी स्वभाव और विकासवाद को देखिए—

(१) ईश्वरीय नियमों से तो सदैव ऐसे बुरे कामोंमें बचने की प्रेरणा होती रहती है। मांस, रुधिर आदि को देखकर मनुष्य को स्वाभाविक ग्लानि होती है। दूसरों की पीड़ा देखकर दिल कांपता तथा पीड़ित होता है, किन्तु हिंसारूपी मल का आवरण हृदय पर आ जाने से ईश्वर की यह आवाज सुनाई नहीं देती। (२) मनुष्य कर्म तथा भोग दोनों प्रकार की योनि है, इसमें संस्कार बनते भी हैं और धुलते भी हैं। दूसरी जो भोग योनियां हैं, उनमें संस्कार बनते नहीं, बल्कि उनकी निवृत्ति होती है। यदि वह हिंसक फिर मनुष्य योनि में ही आवे तो पिछले कर्माशय से दबा हुआ हिंसा के कार्य करता रहेगा और उनसे उसी प्रकार के संस्कार बनते रहेंगे। यह क्रम सदा के लिए जारी रहेगा। यदि किसी को अपनी रक्षा के लिए कोई शस्त्र दिया जाय और वह नशे की अवस्था में उससे अपने ही शरीर को घायल करने लगे तो उसका हित इसी में होगा कि नशा रहने तक उससे वह शस्त्र छीन लिया जाय। ईश्वरीय नियम से मनुष्य शरीर इसलिए दिया गया है कि आत्मोन्नति करे परमात्मा तक पहुंचे। यथा-कठोपनिषद् १/३/३-४ में दिया गया है—

आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव तु।
बुद्धिं तु सारथिं विद्धि मनः प्रग्रहमेव च॥
इन्द्रियाणि हयानाहुर्विषयांस्तेषु गोचरान्।
आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः॥

—कठोपनिषद् १/३/३-४

आत्मा को रथ का स्वामी मानो, शरीर को रथ तथा बुद्धि को सारथी और मन को लगाम समझो। इन्द्रियों को घोड़े कहते हैं और उनके चलने के मार्ग विषय हैं। इन्द्रिय मन से युक्त आत्मा को बुद्धिमान भोक्ता कहते हैं। इस कारण ईश्वर की दया से इन तमो के दूर होने तक अथवा इस मल को दूर करने के लिए नीची योनियों में जाना होता है। इन योनियों में जाने के लिए संस्कार नहीं बनते, बल्कि पिछले हिंसा आदि के संस्कार धुल जाते हैं और फिर मनुष्य-योनि में पवित्र होकर आत्मोन्नति के लिए आता है। ये योनियां तो अन्तःकरण के मल धोने के स्थान हैं।

(२) जिस प्रकार अनजान बालक अपने शरीर को विष्टा में सान लेता है तो माता

नाली के पास ले जाकर उसे धोती है। इसी प्रकार कल्याणकारी प्रकृति माता अपने पुत्रों के मलों को इन योनियों में अपने हितकारी नियमों के जलों से धोती है।

(३) इसमें ईश्वर की दया है न कि क्रूरता, क्योंकि प्रत्येक मनुष्य अपनी इच्छा की पूर्ति में ही सुख समझता है। इस प्रकार ईश्वर के पूर्ण ज्ञान वाले नियम उनको इच्छाओं के अनुसार योनियों में भेजकर उनकी इच्छा-पूर्ति करते हैं।

(४) इसी तरह ईश्वर की कल्याणकारिता यह है कि इस मनुष्य के सब मल धुल जाते हैं और उसे फिर उन्नति करने का अवसर मिल जाता है।

(५) इसमें ईश्वर के न्यायकारी नियम भी आ जाते हैं, जिससे हर प्राणी को उसके कर्मों के अनुकूल फल मिल जाता है और इसमें उसकी सर्वज्ञता भी पाई जाती है कि जिससे समस्त संसार का कार्य व्यवस्थापूर्वक चल रहा है, क्योंकि जिस प्रकार घड़ी के चलने में सब यन्त्र काम करते हैं। इसी प्रकार संसार-रूपी घड़ी चलाने में सब शरीरधारी अपने-अपने स्थान पर कुछ न कुछ काम कर रहे हैं।

सङ्गति, जाति, आयु और भोग में पाप और पुण्य के अनुसार सुख-दुःख मिलता है, यह अगले सूत्र में बतलाते हैं—

ते ह्लादपरितापफलाः पुण्यापुण्यहेतुत्वात्।

—योग-दर्शन २/१४

अन्वार्थ—वे (जाति, आयु और भोग) सुख-दुःख रूपी फल को देने वाले होते हैं, क्योंकि उनके कारण पुण्य और पाप हैं।

व्याख्या—पिछले सूत्रों में बतलाये हुये कर्माशयों के फल जाति, आयु और भोग भी दो प्रकार के (स्वाद वाले) होते हैं। एक सुख देने वाले (मीठे स्वाद वाले) दूसरे दुःख देने वाले (कड़वे स्वाद वाले) पुण्य अर्थात् अहिंसा-त्मक—दूसरों को सुख-दुःख पहुंचाने वाले कर्मों से दुःख मिलता है। पाप तथा हिंसात्मक

(पृष्ठ ८६ का शेष)

अर्थात्—पुरुषख्याति हो जाने पर साधक के चित्त की जो सत्त्वगुण के प्रति अर्थात् सात्त्विक वृत्ति के प्रति भी जो वितृष्णा हो जाती है उसी को परवैराग्य कहते हैं। एता-वता यह स्पष्ट है कि अपरवैराग्य लौकिक और पारलौकिक विषयों के प्रति वितृष्णा का है और परवैराग्य ज्ञानमात्र के प्रति अर्थात् सत्त्वगुण के प्रति भी वितृष्णारूप है। विवेकख्याति के पराकाष्ठा काल में ज्ञान-मात्र के प्रति हेयत्व बुद्धि जागृत होती है। और यही परवैराग्य है। ज्ञान विषयक होने के कारण इसे ज्ञान प्रसाद कहा गया है। यद्यपि अपरवैराग्य की स्थिति में भी ज्ञान के प्रति क्षिनाशित्व आदि दोषदर्शन होता है, तथापि ज्ञानमात्र के प्रति हेयत्व बुद्धि जागृत नहीं होती। अपरवैराग्य के समय अविद्या की निवृत्ति हो जाने परवैराग्य के समय ज्ञानों के प्रति उपेक्षा बुद्धि उत्पन्न होती है। फलतः सम्प्रज्ञातकालीन ध्येयाकार वृत्ति भी निरुद्ध हो जाती है और सर्ववृत्तिनिरोधरूप असम्प्र-ज्ञात समाधि की प्राप्ति होती है। असम्प्रज्ञात समाधि की पराकाष्ठा ही कैवल्य है और यही अभ्यास-वैराग्य का परम प्रयोजन है।

दूसरों के दुःख पहुंचाने वाले कर्मों से दुःख मिलता है। पिछले सूत्रमें बतलाये हुए कर्मोंको जब स्वार्थ छोड़कर दूसरे प्राणियोंके कल्याणार्थ उनकी यथार्थ भलाई और सुख पहुंचाने की मनोवृत्ति से किया जाता है, तब वे कर्त्ता को सुख पहुंचाने के कारण होते हैं और जब स्वार्थवश दूसरे प्राणियोंको काम, क्रोध, लोभ मोहादि से दुःख देने की मनोवृत्ति से किये जाते हैं, तब वे करने वाले को दुःखका कारण होते हैं। यही कारण है कि सर्व योनियों में सुख-दुःख दोनों देखे जाते हैं। जिस प्रकार एक को सुगंधित फूलके न मिलने में दुःख होता है, इसी प्रकार अन्यको विष्ठा के न मिलने में होता है। कुछ मनुष्यों को ऐश्वर्य, सुख, राज, धन, सम्पत्ति सब प्रकार के धन प्राप्त हैं और कुछ लूले, लंगड़े, अन्धे, कोढ़ी, रोटी से तंग सर्दी में ठिठुरते हैं। इनसे नीची योनियों में पशु-पक्षी भी इनसे अधिक सुख पाते हैं। जो सुख अथवा दुःख दूसरों को दिये हैं, उनका फल सुख-दुःख अवश्य मिलता है, चाहे इस योनि में अथवा दूसरी योनियों (जन्मों) में। सुख-दुःख पहुंचाने वाले कर्मों में भी मनोवृत्तियां ही कारण होती हैं। डाक्टर एक पके फोड़ेको नस्तर द्वारा चीरकर उसके मवाद को निकालता है। इससे डाक्टर के चित्त में सुख पाने के कर्माशय बनते हैं, यदि कोई मनुष्य द्वेषसे उसी फोड़ेमें चाकू मारता है, तो उसके चित्तमें दुःख पानेके कर्माशय बनते हैं। अकर्म में भी कर्म होता है और कर्म में भी अकर्म होता है। जैसाकि भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता के अध्याय चार के १७, १८, १९, २१ में बतलाया है—

कर्मणोह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यं च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः॥
कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान्मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्॥
यस्य सर्वे समारम्भाः कामसंकल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः॥
निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्॥
(गी० ४/१७, ४/१८, ४/१९, ४/२१)

जो व्यक्ति इस प्रकार करेगा उसका कल्याण होगा, समाज करेगा समाज का कल्याण होगा राष्ट्र करेगा तो राष्ट्र का कल्याण होगा और यदि सारा संसार करेगा तो उसका कल्याण होगा। नान्यः पन्था विद्यते अयनाय। इसके सिवा दूसरा मार्ग नहीं है।

श्री व्यासजी कहते हैं—

न जातु कामान्न भयान्न लोभात्
धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।
धर्मो नित्यः सुखदुःखे त्वनित्ये
जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः॥

काम तृप्ति के लिए, किसी भय से या कोई वस्तु प्राप्त करने के लोभसे एवं अपना जीवन बचाने के लिये भी धर्म का त्याग नहीं करना चाहिए, क्योंकि धर्म नित्य है इसलिए वह हमेशा तुम्हारे साथ रहेगा। सुख-दुःख अनित्य है, इसमें यह तो भोग देकर अपने आप शांत हो जायेगा। जीव नित्य है, किन्तु उसको प्राप्त संसार अनित्य है, क्योंकि वह तो प्रति देह बदलता ही रहता है।

साधकों को ज्ञात होना चाहिए कि प्रस्तुत लेख सद्गुरु-सत्ता की प्रेरणा से "योगेन योगो ज्ञातव्यो योगो योगात् प्रवर्तते" के अनुसार लिखी गई हमारी पिछली लेख-माला के सिद्धान्त "हिन्दू धर्म के अध्यात्मवाद का विज्ञानसे सामंजस्य" विषय का दूसरा आधार स्तम्भ है।

योगेश्वर श्रीकृष्ण का विभूति-योग

★ ब्रह्मचारी श्री ओमप्रकाश, लखनऊ ★

गीता के दसवें अध्याय में योगेश्वर श्रीकृष्ण अपने योग-ऐश्वर्य को बतलाते हैं। भगवान् श्रीकृष्ण ही सबके आदि, अन्त और मूल हैं। योगेश्वर्य श्रीकृष्ण की सामर्थ्य का नाम 'योग' है और उस योग से प्रकट होने वाला जितना ऐश्वर्य है उसका नाम 'विभूति' है। विभूति माने योगेश्वर्य श्रीकृष्ण का योग ऐश्वर्य और योग का मतलब है योगेश्वर श्री कृष्ण की सामर्थ्य।

जगत् में जो कुछ वस्तु है, सब भगवद्विभूति है। इन विभूतियोंकी गणना नहीं हो सकती। अपनी विभूतियों की बात वह स्वयं कह सकते हैं और किसी में कहने की सामर्थ्य नहीं। पञ्चेन्द्रियों के द्वारा हम जो कुछ अनुभव करते हैं वह है ही कितना और जो कुछ अनुभव करते हैं वह भी तो भगवान् की कुछ स्थूल विभूति मात्र है। सूक्ष्म विभूतियों की कोई सीमा नहीं है, संख्या भी नहीं है। योगी लोग कुछ-कुछ उनको जानते हैं। योगियों के साधन-पथ में कभी-कभी योगैश्वर्य का विकास होता है। मन की निरुद्ध रूप संयम की शक्ति के प्रभाव से जो योगैश्वर्य आकर उपस्थित होते हैं वे बहुधा अवैराग्यवान् योगी को योग-विघ्न पैदा करते हैं, जिससे योगी का चित्त अभिमान से पूर्ण हो जाता है। यही योग-विघ्न है। योग-मार्ग में साधक जैसे-जैसे अग्रसर होते हैं, न्यूनाधिक विभूतियाँ उनके सामने उपस्थित होती हैं। इसको योग-मार्ग में उन्नति की सूचना भी कह सकते हैं।

दसवें अध्याय में योगेश्वर कृष्ण ने जिन विभूतियों का उल्लेख किया है वह पतञ्जलि-प्रोक्त विभूतियों की व्याख्या का रूपान्तर-मात्र है। विभूति-योग की सारी बात योगी को प्रत्यक्ष अनुभव होती है। विभूति का अनुभव करने पर भी साधक को अहङ्कार करने की बात क्या है? साधक जब अन्तर्मुख होता है, साधना के भीतर कुछ प्रवेश करता है, तब कुछ-कुछ योगैश्वर्य या विभूति साधक को प्राप्त होती है। आध्यात्मिक देश में चित्त का बन्ध या धारणा करके योगाभ्यासी अलौकिक दर्शन-श्रवणादि किया करते हैं। षट्चक्र मार्ग के आध्यात्मिक स्थान ही धारणा के विषय हैं। उन स्थलों में जो-जो विशेष अनुभव होते हैं, उनके द्वारा चित्त बद्ध होता है और बद्ध होने से तद्विषयक ज्ञान चित्त में अनुभूत होता है।

योगेश्वर श्रीकृष्ण से अर्जुन पूछते हैं कि हे योगेश्वर! मैं सर्वदा किस रूप में तुम्हारा चिन्तन करूँ और किन-किन पदार्थों में चिन्तन करूँ? किस विषय की धारणा करने पर किस प्रकार का ज्ञान होता है। इन सब बातों को जानने का प्रयोजन होने के कारण ही अर्जुन ने इस प्रकार का प्रश्न किया है। पातञ्जल योग-दर्शन के विभूति पाद में भी ये सारी रहस्य की बातें वर्णित हैं—'संस्कार साक्षात्करणात् पूर्वं जाति ज्ञानम्।' अर्थात् संस्कार साक्षात्कार करने पर पूर्व जन्म का ज्ञान होता है। "प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम्" प्रत्यय-मात्र में संयम का अभ्यास करने पर पर-चित्त का ज्ञान होता है। "बलेषु हस्ति बलादीनि।" अर्थात् हाथी आदि के बलों में संयम करने से योगी को उन्हीं के समान बल की प्राप्ति होती है। 'भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्' अर्थात् सूर्य में संयम करने से योगीको समस्त

भुवनों का ज्ञान होता है। नाभि चक्र में संयम करने से शरीर की स्थिति का ज्ञान होता है। कण्ठ कूप में संयम करने से भूख-प्यास दूर होती है। दिव्य श्रवण, दिव्य दृष्टि, आकाश गमन आदि लगभग तीस सिद्धियों का वर्णन किया गया है। अन्तिम सिद्धि से 'विवेक ख्याति' स्थिति की प्राप्ति होती है जिससे योगी सर्वज्ञ बनकर सब कालों और सब देशों की बातों का ज्ञान तुरन्त प्राप्त कर लेता है।

योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण ने अर्जुन को अपना योग ऐश्वर्य देखने के लिए दिव्य नेत्र दिये उसी दिव्य नेत्र से उसने योगेश्वर भगवान् के योग ऐश्वर्य को देखा। भगवान् ने अर्जुन को कहा 'मैं' अपनी विभूतियों को संक्षेप में कहता हूं क्योंकि मेरी विभूतियों के विस्तार का अन्त नहीं। पहले अपने ऐश्वर्य रूप को बताते हुए वे कहते हैं, हे गुडाकेश, समस्त भूतों के आशय में अर्थात् अन्तःकरण में सर्वज्ञत्वादि गुण द्वारा नियन्तारूप में अवस्थित परमात्मा मैं हूं। मैं ही भूतों का जन्म स्थिति और संहार हूं अर्थात्—सब भूतों के जन्मादि का हेतु मैं हूं। अदिति के पुत्रों में विष्णु वामन और प्रकाशमान चीजोंमें किरणों वाला सूर्य मैं ही हूं। मरुतों का तेज और नक्षत्रों का अधिपति चन्द्रमा मैं हूं। वेदों में सामवेद, देवताओं में इन्द्र, इन्द्रियों में मन और प्राणियों की चेतना (प्राणशक्ति) मैं हूं। रुद्रों में शंकर, यक्ष-राक्षसों में कुबेर, वसुओं में अग्नि और शिखर वाले पर्वतों में मेरु मैं हूं। पुरोहितों में बृहस्पति को मेरा स्वरूप समझ। सेनापतियों में स्कन्द और जलाशयों में समुद्र मैं हूं। महर्षियों में भृगु, वाणियों (शब्दों) में मैं एक अक्षर-प्रणव (ॐ) हूं। सम्पूर्ण यज्ञों में जप-यज्ञ और स्थिर रहने वालों में हिमालय मैं हूं। सम्पूर्ण वृक्षों में पीपल, देवर्षियों में नारद, गन्धर्वों में चित्ररथ और सिद्धों में कपिल मुनि मैं हूं। घोड़ों में अमृत के साथ समुद्र से प्रकट होने वाला उच्चैःश्रवा नामक घोड़ा हूं। श्रेष्ठ हाथियों में ऐरावत नामक हाथी मैं हूं और मनुष्यों में राजा को मेरी विभूति जान।

अस्त्र-शस्त्रों में मैं वज्र और धेनुओं में कामधेनु गाय मैं हूं। सन्तान-उत्पत्ति का हेतु कामदेव मैं हूं और सर्पों में वासुकी मैं हूं। नागों में अनन्त मैं हूं। (सर्प पृथ्वी पर रहता है और नाग जल में रहता है) जल-जन्तुओं का अधिपति वरुण मैं हूं। पितरों में अर्यमा और शासन करने वालों में यमराज मैं हूं। दैत्यों में प्रह्लाद, गणना करने वालों में काल, पशुओं में सिंह और पक्षियों में गरुड़ मैं हूं। पवित्र करने वालों में वायु, शस्त्रधारियों में राम मैं हूं। जल-जन्तुओं में मगर और बहने वाले स्रोतों में गंगाजी मैं हूं।

सम्पूर्ण सर्गों के आदि, मध्य और अन्त में मैं ही हूं। विद्याओं में अध्यात्म-विद्या और परस्पर शास्त्रार्थ करने वालों का तत्त्व-निर्णय के लिए किये जाने वाला वाद मैं हूं। अक्षरों में अकार और समासों में द्वन्द्व-समास मैं हूं। अक्षय काल अर्थात् काल का भी महाकाल तथा सब ओर मुख वाला धाता भी मैं हूं। सबका हरण करने वाली मृत्यु और उत्पन्न होने वाला उद्भव (उत्पत्ति का हेतु) मैं हूं। स्त्री जाति में कीर्ति, श्री, वाक्, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा मैं हूं। गायी जाने वाली श्रुतियों में बृहत्साम और वैदिक छन्दों में

गायत्री मैं हूं। बारह महीनों में मार्गशीर्ष और छः ऋतुओं में वसन्त मैं हूं। छल करने वालों में जुआ और तेजस्वियों में तेज मैं हूं। जीतने वालों की विजय, निश्चय करने वालों का निश्चय और सात्विक पुरुषों का सात्विक भाव मैं हूं। वृष्णि-वंशियों में वासुदेव (श्रीकृष्ण), पाण्डवों में धनञ्जय (अर्जुन) मैं हूं। मुनियों में वेदव्यास और कवियों में शुक्राचार्य मैं हूं। दमन करने वालों में दण्ड, विजय चाहने वालों में नीति, गोपनीय भावों में मौन और ज्ञानवानों में ज्ञान मैं हूं और तो क्या कहूं अर्जुन! सम्पूर्ण प्राणियों का बीज मैं ही हूं। कारण कि हे अर्जुन! मेरे बिना कोई भी चर-अचर प्राणी नहीं है, अर्थात् चर-अचर सब कुछ मैं ही हूं। अर्जुन! मेरी दिव्य विभूतियों का कोई अन्त नहीं है। यह विस्तार तो मैंने संक्षेप से ही कहा है। अर्जुन! मैं तुम्हें अपनी विभूतियों की एक पहचान बताता हूं—जो-जो ऐश्वर्ययुक्त, शोभायुक्त और बलयुक्त वस्तु है, उस उसको तुम मेरे ही तेज (योग) अर्थात् सामर्थ्य के किसी अंश से उत्पन्न हुई समझो। हे अर्जुन! सम्पूर्ण जगत् (अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड) को अपने किसी एक अंश में व्याप्त करके मैं तेरे सामने हाथ में लगाम और चाबुक लिए बैठा हूं। तेरी आज्ञा का पालन कर रहा हूं।

यहाँ भगवान् ने जिन विभूतियों का वर्णन किया है, उन सबको भगवान् ने विभूति रूप से ही कहा है, अवतार रूप से नहीं। जैसे—'वामन भगवान, राम भगवान, श्रीकृष्ण भगवान और तो और भगवान कह रहे हैं कि पाण्डवों में धनञ्जय (अर्जुन) मैं हूं। 卐

सन्त कबीर का योग-ऐश्वर्य

यह तो निर्विवाद है कि कबीर जन्मजात सिद्धयोगी थे। उनकी जीवन गाथा में ऐसी अनेक जन श्रुतियों का उल्लेख पाया जाता है जिससे उनके योगैश्वर्यों की गरिमा का पता चल जाता है। कहते हैं कबीर हृदय के बड़े उदार थे साधु सन्तों के आतिथ्य में बड़ी रुचि रखते थे। लेकिन अपने आवास पर चलने वाले नित्य सत्संग में वे हिंसावादियों की कठोर आलोचना किया करते थे जिससे चिढ़कर हिंसावादियों ने कबीर को अपमानित करने का षड्यन्त्र रच डाला। उन्होंने कबीर के नाम से यह झूठा प्रचार कराया कि अमुक दिन व समय पर मेरे यहाँ विशाल भण्डारा है जिसमें सभी साधु-सन्त आने की कृपा करें। कबीर को इस भण्डारे के आयोजन की कोई जानकारी नहीं दी गई। नियत समय व दिन को देखते ही देखते साधु मण्डली का विशाल समूह कबीर के आश्रम पर जा पहुँचा। पूछने पर सभी ने कहा आपके भण्डारे में आपके निमन्त्रण पर शामिल होने आये हैं। कबीर यह सुनकर दंग रह गये। क्योंकि न तो उन्होंने कोई निमन्त्रण या बुलावा भेजा था और न भण्डारे की कोई व्यवस्था ही वहाँ थी। उन्होंने योगबल से जान लिया कि यह उनके खरे-खरे उपदेशों से कुपित हुए लोगों का षड्यन्त्र है। अपने योगैश्वर्यों के बल से उन्होंने आनन-फानन में ऐसी व्यवस्था की कि सभी आगन्तुक साधु-सन्तों को भरपूर सुन्दर भोजन ही नहीं मिला बल्कि उनके आवासों पर पूछताछ करने वाले कबीर के अनन्य अनुयायियों की टोलियाँ उन्हें हर समय अपने सामने उपस्थित नजर आने लगीं। किसी को भी किसी प्रकार का अभाव या शिकायत का अवसर नहीं मिला। कबीर के इस चमत्कार को देखकर उनके विरोधियों के हौसले बुरी तरह पस्त हो गए। कबीर की जीवनगाथा, इस प्रकार के अनेक योग ऐश्वर्यों से भरी पड़ी है।

★ श्री शिवराम सांवर

जयन्ती-महोत्सव

और

सिद्धयोग का २१वाँ वर्ष

चैत्र शुक्ला नवमी को जो प्रतिवर्ष ही—श्री सिद्धगुफा योग प्रशिक्षण केन्द्र, सवाई-आश्रम-हरनादपुर, आगरा में—इस युग के योग-प्रवर्तक और उसके पुनरुद्धारक परम सिद्धेश्वर महाप्रभु श्री रामलाल जी महाराज की जयन्ती त्रिदिवसीय महोत्सव के रूप में बड़े उल्लासपूर्ण वातावरण में, मनाई जाती है। यह जयन्ती महोत्सव दूसरे शब्दों में एक विशाल योग मेला के रूप में प्रचलित हो चुका है जिसमें कई सहस्र योग साधक भाई-बहन भारतवर्ष के दूरस्थ राज्यों से आ-आकर शामिल होते हैं। इस वर्ष यानी वि० सं० २०४५ अर्थात् १९८८ ई० को मनाये जा रहे जयन्ती महोत्सव का महत्व तो और अधिक बढ़ गया है क्योंकि यह वर्ष महाप्रभुजी के अवतरित होने का शतक वर्ष है। अब से ठीक एक सौ वर्ष पूर्व सं० १९४५ वि० चैत्र शुक्ला नवमी को [illegible] पर प्रथम बार यह महान् आत्मा अपना जीवन शरीर लेकर धराधाम में आई थी। सवाई आश्रम पर इस वर्ष का यह महोत्सव आश्रम के संस्थापक योग [illegible] द्वारा कुछ विशेष योगपरक कार्यक्रमों के साथ सम्पन्न होगा। महोत्सव में महाराज श्री के मनीषी शिष्यों के अतिरिक्त अन्य अनेक विशिष्ट प्रवक्ता और विद्वानों तथा संगीत कलाकारों को आमन्त्रित किया गया है।

'सिद्धयोग' इस पावन अवसर पर अपनी आयु के २१वें वर्ष में अपने विशेषांक के साथ प्रवेश कर रहा है। गत २० वर्ष पूर्व योग-जगत् की इस एकमात्र सबल, स्वस्थ मासिक का जन्म योग योगेश्वर अनन्त श्री विभूषित श्री चन्द्रमोहन जी महाराज के सद्प्रयासों के फलस्वरूप ही हुआ था और उन्हीं के सम्पादन, संरक्षण और निर्देशन में प्रकाशन मार्ग में आई विषम आर्थिक दुरूहताओं का भार-वहन करता हुआ यह निरन्तर अपने कर्तव्य पथ पर अग्रसर है। योगावतार महाप्रभुजी के आशीर्वादों का सम्बल ही इसकी प्रगति का कारण रहा है। इस अवसर पर उन अनेक विद्वान, विचारवान् लेखकों, सुकवियों और आश्रम से सम्बन्धित सहस्राधिक पाठकों भाई-बहनों तथा अन्तःवासी उन ब्रह्मचारियों के सहयोग को भी कैसे भुलाया जा सकता है, जिनकी सुकृतियों और ग्राहक-शुल्क रूप में प्राप्त हुई राशि का योग-दान इस प्रकाशन-गिरि के भार को उठा लेने में पूज्य श्री सद्गुरुदेव जी को उसी प्रकार सहाय प्राप्त रहा है जिस प्रकार कि युगावतार श्री कृष्णचन्द्र जी महाराज को ब्रज के ग्वाल-गोपालों ने अपनी-अपनी लाठियाँ लगाकर अर्पित किया था। आखिर, यह सब भी तो इन सबका अपना ही काम है। इन सबके प्रति उनके कृपापूर्ण सहयोग के लिए संयुक्त सम्पादक के रूप में मैं विनम्रतापूर्वक अपना आभार प्रकट करता हूँ।

'सिद्धयोग' के वार्षिक मूल्य में कुछ वृद्धि की अनुमति श्री गुरुदेव महाराज ने प्रदान की है ? मुद्रण व्यय में आये दिन हुई वृद्धि को देखते हुए ऐसा करना अनिवार्य सा हो गया था। 'सिद्धयोग' का वार्षिक मूल्य अब २० रु० के बजाय २५ रु० इस वर्ष से होगा। पाठक इसी के अनुसार अपना वार्षिक मूल्य जमा करने की कृपा करें। ● विनयावनत :

देवीप्रसाद 'सिद्ध' संयुक्त सम्पादक

Siddhayoga Regd No. L. AG. 008 Apr 1988

योग के सिद्धान्त और शिक्षाओं का प्रतिपादक मासिक

सिद्धयोग

संस्थापक संपादक तथा संरक्षक:
योगिराज अनंत श्री [illegible] महाराज

आन्तरिक शक्ति

मनुष्य तभी तक मनुष्य कहा जा सकता है जब तक वह प्रकृति से ऊपर उठने के लिए संघर्ष करता है। और यह प्रकृति बाह्य और आभ्यान्तरिक दोनों है। प्रकृति के वे ही नियम नहीं हैं जिनसे हमारे शरीर के तथा उसके बाहर के परमाणु नियन्त्रित होते हैं वरन् ऐसे सूक्ष्म नियम भी हैं जो हमारी अन्तस्थ प्रकृति का भी नियमन करते हैं। ग्रहों और नक्षत्रों का नियन्त्रण करने वाले नियमों को जान लेना बहुत अच्छा और गरिमामय है पर इससे भी अधिक अच्छा और श्रेयस्कर रहता है उन नियमों को जान लेना जिनसे हमारे मनोवेग, भावनायें और इच्छायें नियन्त्रित होती हैं। योग-धर्म मनुष्य को अपनी इसी आन्तरिक शक्ति से परिचित कराने का एकमात्र साधन है। पर इस साधन को सद्गुरु ही सुलभ कर पाते हैं।

● विवेकानन्द

मुद्रक—देवीप्रसाद शर्मा 'दिव्य' कर्मयोग प्रिंटिंग प्रेस, [illegible], आगरा-१ फोन [illegible]